अथ द्वादशोऽध्यायः

भक्तियोग

(श्रीभगवान् की प्रेममयी सेवा)

अर्जुन उवाच।
एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः।।१।।

अनुवाद

अर्जुन ने पूछा, हे कृष्ण! जो आपकी भक्ति के परायण हैं और दूसरे जो निराकार-निर्विशेष ब्रह्म की उपासना करते हैं, इन दोनों प्रकार के मनुष्यों में अधिक सिद्ध कौन है?।।१।।

तात्पर्य

श्रीकृष्ण साकार, निराकार और विश्वरूप का तथा सब प्रकार के भक्तों और योगियों का वर्णन कर चुके हैं। साधारण रूप में योगियों का साकारवादी और निराकारवादी—इन दो कोटियों में वर्गीकरण किया जा सकता है। साकारवादी भक्त अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ भगवत्सेवा के परायण रहते हैं। निराकारवादी सीधे

कृष्णसेवा के परायण न होकर निराकार ब्रह्म के ध्यान का अभ्यास करते हैं।

इस अध्याय के अनुसार परमसत्य-साक्षात्कार के नाना साधनों में भक्ति सर्वोत्तम है। यदि श्रीभगवान् के संग की कुछ भी अभिलाषा हो तो भक्तिमार्ग को अवश्य अंगीकार करना होगा।

श्रीभगवान् को सीधे भक्तियोग से भजने वाले साकारवादी भक्त कहलाते हैं। दूसरे, जो निर्विशेष ब्रह्म का ध्यान करते हैं, वे निराकारवादी हैं। अर्जुन की जिज्ञासा है कि इनमें कौन सी स्थिति अधिक उत्तम है। परम सत्य की अनुभूति के अनेक मार्ग हैं; किन्तु श्रीकृष्ण ने इस अध्याय में निर्णय किया है कि भक्तियोग सर्वोत्तम है। श्रीभगवान् का संग करने का यह सबसे सीधा और सुगम पथ है।

द्वितीय अध्याय में श्रीभगवान् ने कहा है कि जीवात्मा प्राकृत देह से भिन्न, परम सत्य (परतत्त्व) का अंश है। सातवें अध्याय में जीव को परम पूर्ण तत्त्व का भिन्न-अंश बता कर वे निर्देश करते हैं कि वह पूर्ण तत्त्व पर अपने चित्त को एकाग्र कर ले। आठवें अध्याय में उल्लेख है कि जो कोई मृत्यु-काल में श्रीकृष्ण का स्मरण करता है, वह तत्क्षण श्रीकृष्ण के परमधाम को प्राप्त कर लेता है तथा छठे अध्याय के अन्त में श्रीभगवान् कहते हैं कि सब योगियों में वह योगी परम सिद्ध है, जो अपने अन्तरात्मा से उन का निरन्तर अनन्य चिन्तन करता है। इस प्रकार गीता में सर्वत्र श्रीकृष्ण की भक्ति को ही स्वरूप-साक्षात्कार की परम सिद्धि घोषित किया गया है। फिर भी, बहुत से मनुष्य केवल श्रीकृष्ण की निर्विशेष ब्रह्मज्योति के प्रति आकृष्ट रहते है, जो परम सत्य (परतत्त्व) का सर्वव्यापक, अव्यक्त और इन्द्रियों से अतीत पक्ष है। अर्जुन जानना चाहता है कि इन दोनों कोटि के योगियों में किसका ज्ञान अधिक पूर्ण है। प्रकारान्तर से, अर्जुन स्वयं अपनी स्थिति के सम्बन्ध में आश्वस्त होना चाहता है, क्योंकि उसका अनुराग श्रीकृष्ण के स्वयंरूप में है। निराकार ब्रह्म में उसकी आसक्ति नहीं है। अतएव वह जानना चाहता है कि उसकी स्थिति ठीक है अथवा नही। प्राकृत-जगत् में तो क्या, वैकुण्ठ-जगत् में भी निराकार का ध्यान करना बहुत कठिन है। वस्तुत. परमसत्य के निराकार तत्त्व का भलीभाँति चिन्तन नहीं किया जा सकता। अतएव अर्जुन मानो कह रहा है— ''इस प्रकार समय को व्यर्थ करने से क्या लाभ ?'' अर्जुन को ग्यारहवें अध्याय में अनुभव हो चुका है कि श्रीकृष्ण के स्वयंरूप में अनुराग होना सर्वोत्तम है, क्योंकि इससे उसे उनके अन्य सब रूपों का एक ही समय बोध हो गया और उसके कृष्णप्रेम में भी कोई अन्तर नहीं पड़ा। श्रीकृष्ण से अर्जुन की इस महत्त्वपूर्ण जिज्ञासा के द्वारा परमसत्य (परतत्त्व) के साकार और निराकार स्वरूपों में अन्तर स्पष्ट हो जायगा।

श्रीभगवानुवाच।
मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः।।२।।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, हे अर्जुन! मेरे स्वयंरूप में मन को एकाग्र करके जो भक्तजन परम श्रद्धा सहित नित्य-निरन्तर मेरे भजन के परायण रहते हैं, उन्हें मैं परम सिद्ध योगी मानता हूँ।।२।।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्।।३।।
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः।।४।।

अनुवाद

दूसरे जो इन्द्रियों को वश में करके और सब में समभाव रखते हुए परमसत्य के अव्यक्त, इन्द्रियों से अतीत, सर्वव्यापी, अचिन्त्य, नित्य, अचल ब्रह्म स्वरूप की भलीभाँति उपासना करते हैं, वे प्राणीमात्र के हित में संलग्न योगी भी अन्त में मुझ को ही प्राप्त होते हैं।।३-४।।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते।।५।।

अनुवाद

परन्तु जिनका चित्त परमसत्य के निराकार-निर्विशेष स्वरूप में आसक्त है, उनके लिए पारमार्थिक उन्नति करने में विशेष कष्ट है, क्योंकि देहाभिमानियों को यह अव्यक्त विषयक गति अत्यन्त कठिनाई से प्राप्त होती है।।५।।

तात्पर्य

जो योगी श्रीभगवान् के अचिन्त्य, अव्यक्त, निराकार स्वरूप की उपासना करते हैं, उन्हें ज्ञानयोगी कहा जाता है तथा पूर्ण कृष्णभावनाभावित होकर भक्तियोग के परायण मनुष्य भक्तियोगी कहलाते हैं। यहाँ ज्ञानयोग और भक्तियोग का अन्तर स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हुआ है। ज्ञानयोग से भी अन्त में परम लक्ष्य की प्राप्ति हो जाया करती है, किन्तु साधन-अवस्था में यह पथ बहुत कष्टपूर्ण है। इसकी अपेक्षा,

भक्तियोग, अर्थात् साक्षात् श्रीभगवान् की सेवा का पथ सुगम होने के साथ ही बद्धजीव का स्वाभाविक धर्म भी है। जीव अनादि काल से बद्ध है। उसके लिये केवल पुस्तकीय जानकारी के आधार पर यह जान पाना बड़ा कठिन है कि वह देह से भिन्न है। अतएव जीव की देहात्मबुद्धि के सदुपयोग के लिये भक्तियोग में श्रीकृष्ण के अर्चा-विग्रह की आराधना की जाती है। अवश्य ही, मन्दिर में विराजमान भगवत्-विग्रह की पूजा करना पत्थर को पूजना नहीं है। वैदिक शास्त्रों का प्रमाण है कि उपासना के सगुण-निर्गुण, दो भेद हैं। मन्दिर में भगवत्-विग्रह की पूजा सगुण उपासना कहलाती है। परन्तु पाषाण, काष्ठ, रंग आदि प्राकृत गुणों के रूप में प्रकट होने पर भी भगवत्-विग्रह वास्तव में प्राकृत नहीं है, क्योंकि श्रीभगवान् अद्वय-स्वरूप है।

अर्चा-विग्रह का तत्त्व एक स्थूल उदाहरण से समझा जा सकता है। यदि हम मार्ग में स्थित किसी डाक के डिब्बे में अपना पत्र डालते हैं तो वह सहज में गन्तव्य तक पहुँच जाता है। किन्तु जिस-किसी अनधिकृत डिब्बे का उपयोग करने से हमारा प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। इसी भाँति, अर्चा-विग्रह श्रीभगवान् का अधिकृत (प्रामाणिक) रूप है। यह अर्चा-विग्रह श्रीभगवान् का अवतार है, इसके माध्यम से श्रीभगवान् हमारे द्वारा निवेदित सेवा को स्वीकार करते है। श्रीभगवान् सर्वसमर्थ एवं सर्वशक्तिमान् हैं; अतः अपने अर्चा-विग्रह रूपी अवतार के द्वारा वे कृपापूर्वक भक्त की सेवा को ग्रहण कर सकते हैं। उनकी इस अहैतुकी कृपा से बद्धजीव को उनकी सेवा का अवसर सुगमता से सुलभ हो जाता है।

इस प्रकार भक्त के लिये श्रीभगवान् की अविलम्ब और सीधी प्राप्ति सब प्रकार से सुगम और सुखावह है, जबकि निराकारवादियो का पथ क्लेशमय है। निराकार-वादियो के लिये उपनिषद् आदि वैदिक शास्त्रों से परमसत्य के निराकार स्वरूप को समझना आवश्यक है। साथ ही, भाषा का ज्ञान, इन्द्रियों से अतीत भावों और इन सभी पद्धतियों की अनुभूति की भी अपेक्षा है। साधारण मनुष्य के लिए यह सब सरल नहीं है। दूसरी ओर, भक्तियोग के परायण कृष्णभावनाभावित पुरुष प्रामाणिक गुरु का आश्रय ग्रहण करने, अर्चा-विग्रह की वन्दना करने, भगवद्गुणगान-श्रवण तथा भगवत्प्रसाद स्वीकार करने मात्र से सुगमतापूर्वक श्रीभगवान् को प्राप्त हो जाता है। निस्सन्देह निराकारवादी व्यर्थ में एक ऐसे कष्टसाध्य मार्ग को अंगीकार किए हुए हैं, जिससे अन्त में भी परमसत्य की प्राप्ति होगी, यह निश्चित नहीं है। परन्तु भक्तजन किसी भी संकट, क्लेश अथवा कठिनाई के बिना सीधे-सीधे श्रीभगवान् को प्राप्त हो जाते हैं। श्रीमद्भागवत में भी ऐसा एक श्लोक है। उसके अनुसार, अन्त में

श्रीभगवान् की शरण लेना जीवमात्र के लिये आवश्यक है (इस शरणागति का ही नाम भक्ति है)। पर यदि कोई सम्पूर्ण जीवन, 'यह ब्रह्म है, यह ब्रह्म नहीं है', इस प्रकार मीमासा करने में ही व्यतीत कर दे, तो परिणाम में क्लेश ही क्लेश हाथ लगेगा। अतएव इस श्लोक में श्रीभगवान् का परामर्श है कि स्वरूप-साक्षात्कार के इस निराकार पथ को ग्रहण न करे, क्योंकि इसका अन्तिम परिणाम अनिश्चित है।

जीवात्मा का निज स्वरूप सनातन है। यदि वह पूर्ण-तत्त्व में लीन होना चाहे, तो उसे अपने आदि स्वरूप के 'सत्' और 'चित्' की अनुभूति तो हो सकती है, परंतु 'आनन्द' अंश की अनुभूति नहीं हो सकेगी। ऐसा ज्ञानयोग में पूर्ण पारंगत योगी तक भक्तकृपा से भक्तियोग मे प्रवृत्त हो सकता है। उस समय निराकारवाद का सुदीर्घकालीन अभ्यास भी दु खदायी सिद्ध होता है, क्योंकि एक बार अपनाकर फिर इस धारणा को पूर्णरूप से त्यागना कठिन है। इस प्रकार निराकारवाद बद्धजीव के लिए साधन-अवस्था में ही नही, सिद्धावस्था में भी क्लेशदायी है। जीव को आंशिक स्वतन्त्रता मिली हुई है, अत उसे निश्चित रूप में यह जान लेना चाहिये कि यह निराकार अनुभूति वस्तुत उसके चिदानन्दमय स्वरूप के विपरीत है। अतएव यह पथ ग्रहण नहीं करना चाहिए। जीवमात्र के लिये कृष्णभावना का पथ, जिसमें पूर्ण रूप से भक्तियोग के परायण हो जाना होता है, सर्वोत्तम है। इस भक्तियोग की उपेक्षा करने से अनीश्वरवादी हो जाने का भय है। अस्तु, जैसा श्लोक में कहा जा चुका है, निराकार, अव्यक्त, अचिन्त्य तथा इन्द्रियों से अगोचर तत्त्व के ध्यान की पद्धति को किसी भी काल में, विशेषत वर्तमान कलियुग में प्रोत्साहित करना ठीक नहीं, भगवान् श्रीकृष्ण ने इसका परामर्श नहीं दिया है।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते।।६।।
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्।।७।।

अनुवाद

जो सम्पूर्ण कर्मों को मेरे अर्पण करके और अनन्य भक्तियोग के परायण होकर नित्य-निरन्तर मेरा ही भजन-चिन्तन करते हैं, मुझ में एकान्त भाव से अनुरक्त मन वाले उन भक्तजनों का हे पार्थ! मैं जन्म-मृत्युरूपी संसार-सागर से अति शीघ्र उद्धार करता हूँ।।६-७।।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः।।८।।

अनुवाद

अपने मन को मुझ भगवान् में एकाग्र कर और संपूर्ण बुद्धि से मेरा ही चिन्तन कर। इसके अनन्तर निःसन्देह तू सदा मुझ में ही निवास करेगा, अर्थात् मुझ को ही प्राप्त होगा।।८।।

तात्पर्य

भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति के परायण मनुष्य का उन परमेश्वर से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहता है। अत: उसकी स्थिति प्रारम्भ से ही दिव्य है, इसमें कोई सन्देह नहीं। भक्त लौकिक स्तर पर नहीं रहता; वह श्रीकृष्ण में निवास करता है। श्रीभगवान् के पावन नाम और स्वयं श्रीभगवान् में भेद नहीं है। अतः जिस समय भक्त हरे कृष्ण कीर्तन करता है, उस समय श्रीकृष्ण और उनकी अन्तरंगा आह्लादिनी शक्ति उसके जिह्वा-प्रागण में नाचा करते हैं। जब वह श्रीकृष्ण को भोग अर्पण करता है तो श्रीकृष्ण प्रत्यक्ष रूप से उस नैवेद्य को खाते हैं और उनके प्रसाद को खाकर भक्त भी कृष्णमय बन जाता है। जो इस सेवा के परायण नहीं है वह इसके मर्म को नहीं जान सकता, यद्यपि गीता तथा अन्य वैदिक शास्त्रों में भक्तिपथ का प्रतिपादन है।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय।।९।।

अनुवाद

हे अर्जुन! यदि तू मन को मुझ में अचल रूप से एकाग्र नहीं कर सकता, तो भक्तियोग की विधि का अभ्यास कर। इससे तुझ में मेरी प्राप्ति की इच्छा जागृत हो जायगी।।९।।

तात्पर्य

इस श्लोक में भक्तियोग की दो पद्धतियों का प्रतिपादन है। प्रथम पद्धति में उस का अधिकार है, जो दिव्य प्रेमवश भगवान् श्रीकृष्ण में अनुरक्त हो गया हो। दूसरी विधि उसके लिये है, जिसमें श्रीभगवान् के प्रति प्रेममयी आसक्ति का समुदय नहीं हुआ है। इस दूसरे वर्ग के लिये नाना प्रकार के विधि-विधान हैं, जिनका पालन करने से अन्ततः श्रीकृष्ण में अनुराग की अवस्था प्राप्त हो जाती है।

भक्तियोग इन्द्रियों को शुद्ध करने की पद्धति है। इस जगत् में अपनी तृप्ति में लगी रहने से इन्द्रियाँ नित्य अशुद्ध (दूषित) रहती हैं; परन्तु भक्तियोग के अभ्यास से इन्हें शुद्ध किया जा सकता है। उस शुद्धावस्था में इन्हें साक्षात् श्रीभगवान् का संस्पर्श प्राप्त होता है। इस संसार मे जीवमात्र किसी न किसी स्वामी की सेवा में संलग्न है, परन्तु उसकी वह सेवा प्रेममयी नहीं है। वह धन कमाने के लिये ही किसी की सेवा

करता है और उसका स्वामी भी उससे प्रेम नहीं करता; उसकी सेवा के बदले में ही वह कुछ पारिश्रमिक देता है। अतएव संसार में प्रेम का प्रश्न नहीं बनता। परन्तु भगवत्परायण जीवन के लिये शुद्ध प्रेमावस्था की प्राप्ति आवश्यक है। इन्हीं इन्द्रियों के द्वारा भक्तियोग का अभ्यास करने से यह प्रेमावस्था सुलभ हो सकती है।

यह भगवत्प्रेम जीवमात्र के हृदय में सोया पड़ा है। संसार में यह नाना प्रकार से अभिव्यंजित तो होता है; पर विषयसंगवश इसका यह प्रकाश दूषित है। अतएव विषयसंग को शुद्ध करके उस सुप्त स्वाभाविक कृष्णप्रेम को फिर जागृत करना है। यही भक्तियोग की सम्पूर्ण पद्धति है।

भक्तियोग के विधि-विधान के पालनार्थ कुशल सद्गुरु के आश्रय में कुछ सिद्धान्तों का अनुसरण करना आवश्यक है। ब्राह्ममुहूर्त में शय्या त्याग कर स्नान, मन्दिर-गमन, पूजन, हरेकृष्ण कीर्तन, अर्चा-विग्रह के लिये पुष्प-चयन, नैवेद्य बनाना तथा प्रसाद ग्रहण करने जैसी विधियाँ पालनीय हैं। शुद्धभक्त के मुखारविन्द से श्रीभगवद्गीता और श्रीमद्भागवत का नित्य-निरन्तर श्रवण करना चाहिए। जो कोई यह अभ्यास करता है, उसे भगवत्प्रेम की प्राप्ति हो सकती है, जिससे भगवद्धाम के मार्ग में प्रगति निश्चित हो जाती है। अस्तु, गुरुदेव के आज्ञानुसार भक्तियोग का नियमित रूप से अभ्यास करने पर भगवत्प्रेम की अवस्था अवश्य अति शीघ्र सुलभ हो जायगी।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि।।१०।।

अनुवाद

यदि तू विधिपूर्वक भक्तियोग को अभ्यास भी नहीं कर सकता, तो मेरे लिए कर्म करने के ही परायण हो, क्योंकि मेरे लिए कर्म करने से भी मेरी प्राप्तिरूप सिद्धि को प्राप्त हो जायगा।।१०।।

तात्पर्य

जो गुरु के आज्ञानुसार विधि-विधान सहित भक्तियोग का अभ्यास नहीं कर सकता, उसे भी श्रीभगवान् की प्रीति के लिए कर्म करने में लगा कर भगवत्प्रेमरूप संसिद्धि की ओर अग्रसर किया जा सकता है। इस प्रकार भगवत्परायण कर्म करने की विधि का वर्णन ग्यारहवें अध्याय के पचपनवें श्लोक में किया जा चुका है। कृष्णभावनामृत के प्रचार के लिए मन में सहानुभूति का भाव रहे। ऐसे अनेक भगवद्भक्त हैं, जो कृष्णभावना के प्रचार-प्रसार में प्राणपण से मग्न हैं; उन्हें सहायता और सहयोग की अपेक्षा है। अतः जो स्वयं भक्तियोग का आचरण न कर सकता

हो, वह मनुष्य भी प्रचार-कार्य में सहयोग दे कर कल्याण का पात्र बन सकता है। किसी भी कार्य के लिये भूमि, पूंजी, व्यवस्था और परिश्रम की आवश्यकता होती है। व्यापार की भाँति, श्रीकृष्ण की सेवा में भी रहने के लिये स्थान, उपयोग के लिये पूंजी, कार्य के लिये परिश्रम और विस्तार के लिये व्यवस्था चाहिये। दोनों में अन्तर यह है कि एक ओर जहाँ सासारिक कर्म इन्द्रियतृप्ति के लिए किया जाता है; दूसरी ओर, वही कर्म श्रीकृष्ण की प्रीति के लिए किए जाने पर दिव्यता प्राप्त कर लेता है। यदि कोई धनवान् है तो वह कृष्णभावना के प्रचारार्थ कार्यालय अथवा मन्दिर बनाने और ग्रन्थप्रकाशन में सहयोग कर सकता है। कर्म के विविध क्षेत्र हैं। कृष्ण सेवा के लिए इन सभी कर्मों में रुचि लेनी चाहिए। अपनी क्रियाओं के फल का त्याग करने मे असमर्थ होने पर भी कम से कम कृष्णभावना के प्रचार में उसके कुछ अंश का समर्पण तो किया जा ही सकता है। कृष्णभावना के प्रचार के लिए स्वेच्छा से इस प्रकार की निष्काम सेवा करने से भगवत्प्रेम की उच्च अवस्था को प्राप्त होने में सहायता मिलेगी, जिससे जीवन कृतार्थ हो उठता है।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्।।११।।

अनुवाद

यदि तू इस बुद्धियोग से युक्त होकर कर्म भी नहीं कर सकता, तो आत्मस्वरूप में स्थित होकर फल का त्याग करता हुआ सब कर्म कर।।११।।

तात्पर्य

सम्भव है कि समाज, परिवार या आस्था के कारण अथवा किसी अन्य बाधावश, कोई चाहते हुए भी कृष्णभावना की प्रचार-क्रियाओं से सहयोग भी न कर सके। यदि वह प्रत्यक्ष रूप से कृष्णभावनामय क्रियाओं में तत्पर हो जाय तो बन्धु-बान्धवों का विरोध जैसी कठिनाइयाँ उठ सकती है। जिसके साथ ऐसी समस्या हो, उसे चाहिए कि अपने संचित कर्मफल को सत्कर्म में लगाये। वैदिक नियमो में इस प्रकार के अनेक विधान हैं। ऐसे यज्ञों और पुमुन्डी नामक कृत्यों का उल्लेख है, जिनमें पिछले कर्मफल का उपयोग किया जाता है। इससे क्रमशः ज्ञान हो सकता है। देखने में आता है कि कृष्णभावनाभावित सेवाकार्य में लेशमात्र रुचि न रखने वाला मनुष्य भी कभी-कभी औषधालय आदि को दान देकर कर्मफल का त्याग करता है। इसका यहाँ विधान है, अर्थात् ऐसा करना चाहिए , क्योंकि कर्मफल का त्याग करने के अभ्यास से निस्सन्देह शनै.-शनै. चित्त-शुद्धि होती है। फिर चित्त की शुद्धावस्था में कृष्णभावना के माधुर्य के आस्वादन

की योग्यता आ जाती है। यह अवश्य है कि कृष्णभावना किसी अन्य उपचारोपाय पर निर्भर नहीं करती, कृष्णभावना चित्त का मार्जन करने में स्वयं पूर्ण समर्थ है। परन्तु यदि कृष्णभावना के पथ में अन्य प्रतिबन्ध आयें तो कर्मफल-त्याग का अभ्यास करे। समाजसेवा, जातिसेवा, राष्ट्रसेवा आदि सब कर्म किए जा सकते है; पर इन्हें निष्काम भाव से ही करे, जिससे एक दिन विशुद्ध भगवत्सेवा करने की योग्यता प्राप्त हो जाय—परा भक्ति उदित हो जाय। भगवद्गीता में ही अन्यत्र कहा है · **यतः प्रवृत्तिर्भूतानाम्**। यदि कोई सब के परम कारण के लिए कर्मफलत्याग करे, पर यह न जानता हो कि श्रीकृष्ण ही परम कारण हैं, तो फलत्याग रूपी यज्ञ करने से उसे शनैः-शनैः इस सत्य की अनुभूति हो जायगी।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ।।१२।।

अनुवाद

यदि यह अभ्यास भी नहीं कर सकता तो ज्ञान का अनुशीलन कर, ज्ञान से ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यान से भी सब कर्मों के फल का त्याग करना उत्तम है, क्योंकि त्याग से तत्काल शान्ति मिलती है।।१२।।

तात्पर्य

पूर्ववर्ती श्लोकों मे कहा जा चुका है कि भक्ति दो प्रकार की है—वैधी और रागानुगा। जो यथार्थ में कृष्णभावना के सिद्धान्तों का अनुसरण करने के योग्य नहीं है, उनके लिए ज्ञान का अनुशीलन करना अधिक श्रेयस्कर है, क्योकि ज्ञान से अपनी वास्तविक स्थिति को समझा जा सकता है। शनैः-शनैः ज्ञान ध्यान मे विकसित हो जायगा। ध्यान की क्रमिक पद्धति से भगवत्-तत्त्व को जाना जा सकता है। अहंग्रहोपासना की पद्धति मे अभ्यासकर्ता अपने को ही परम तत्त्व मानता है। यह ध्यानविधि उनके लिए है, जो भक्तियोग के अयोग्य हैं। जो इस प्रकार ध्यान भी नहीं कर सकते, उनके लिए वर्णाश्रम-धर्म का विधान है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के स्वधर्म के रूप में इनका विस्तृत वर्णन अट्ठारहवें अध्याय में है। इन सभी साधनों मे अपने कर्मों का फलत्याग कर देना चाहिए, अर्थात् कर्मफल का सदुपयोग करना चाहिए। सारांश में, परमलक्ष्य श्रीभगवान् की प्राप्ति के क्रमिक तथा सीधा, ये दो मार्ग हैं। कृष्णभावनाभावित भक्तियोग सीधा मार्ग है, जबकि कर्मफलत्याग करने से भगवत्प्राप्ति शनैः-शनैः ही हो सकती है। कर्मफल का त्याग करने से ज्ञान होता है, ज्ञान से ध्यान होता है और ध्यान से परमात्मा का और अन्त मे श्रीभगवान् का साक्षात्कार होता है।

मनुष्य स्वेच्छानुसार भक्तियोग के सीधा मार्ग को अथवा फलत्याग के क्रमिक मार्ग को अपना सकता है। सीधे मार्ग को ग्रहण करने की योग्यता सब में नहीं होती; अत. क्रमिक मार्ग भी उपयोगी है। परन्तु अर्जुन के लिए क्रमिक मार्ग का उपदेश नही है, क्योकि वह तो पहले से ही भगवत्प्रेमी है। जो भगवद्‌भक्ति से शून्य है, उन्हीं के लिए त्याग, ज्ञान, ध्यान तथा परमात्मा और ब्रह्म की अनुभूति के क्रमिक मार्ग का विधान है। जहाँ तक भगवद्गीता का सम्बन्ध है, उसमें सीधे मार्ग की ही स्तुति है। अतएव गीता के अनुसार मनुष्यमात्र को सीधे भक्तिमार्ग को अंगीकार करके अनन्य भाव से भगवान् श्रीकृष्ण के शरणागत हो जाना चाहिए।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी।।१३।।
संतुष्ट सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः।।१४।।

अनुवाद

जो किसी से द्वेष नहीं करता और सब का निस्वार्थ कृपामय मित्र है, जो ममता और मिथ्या अहकार से रहित, सुख-दुःख की प्राप्ति में समान और क्षमावान् है तथा जो हानि-लाभ मे सदा सन्तुष्ट रहता है, दृढ़ निश्चय सहित भक्तियोग के परायण है और जिसने अपने मन-बुद्धि को मुझ में ही अर्पण कर रखा है, वह मेरा भक्त मुझे प्रिय है।।१३-१४।।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः।।१५।।

अनुवाद

जिससे किसी को उद्वेग (कष्ट) नहीं होता और जो स्वयं भी किसी जीव से उद्वेग को प्राप्त नहीं होता; जो हर्ष, शोक आदि उद्वेगों के प्रभावित नहीं होता, वह मेरा प्रिय है।।१५।।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः।।१६।।

अनुवाद

जो व्यावहारिक कार्यों की अपेक्षा से रहित, शुद्ध, कुशल और अनासक्त है, सब दुःखों से छूटा हुआ है तथा किसी फल के लिए प्रयत्न नहीं करता, वह मेरा भक्त

मुझे प्रिय है।।१६।।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः।।१७।।

अनुवाद

जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है और न कामना ही करता है, तथा जो शुभ और अशुभ आदि सम्पूर्ण कर्मों के फल का त्यागी है, वह मेरा भक्त मुझे प्रिय है।।१७।।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः।।१८।।
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः।।१९।।

अनुवाद

जो शत्रु-मित्र में, मान-अपमान में, सर्दी-गर्मी, सुख-दुःखादि में समान है और कुसंग से मुक्त है, जो निन्दा-स्तुति को सम्म्न समझने वाला है और मननशील है, जो सदा सन्तुष्ट रहता है, जिसका कोई नियत निवास नहीं है और जो ज्ञान में स्थित है, वह मेरा भक्त मुझे प्रिय है।।१८-१९।।

तात्पर्य

भक्त सदा सब प्रकार के कुसंग से मुक्त रहता है। कभी यश हुआ करता है तो कभी अपयश; यह मानवसमाज का स्वभाव-सा है। भक्त ऐसे लौकिक मान-अण्मान, सुख-दुःख आदि से सदा परे है। उसके धैर्य की सीमा नहीं होती। कृष्णकथा के अतिरिक्त वह कुछ नहीं बोलता; इसी से उसे **मौनी** कहा जाता है। **मौनी** होने का अर्थ यह नहीं कि बिल्कुल चुप रहे। अनर्थ भाषण न करने का नाम ही मौन है। आवश्यक होने पर वाणी का उपयोग करना चाहिए और भगवत्कथा सुनाना भक्त के लिए परम आवश्यक है। वह सदा-सर्वदा प्रसन्नचित्त रहता है। कभी स्वादिष्ट भोजन मिलता है तो कभी नहीं मिलता; पर वह किसी भी स्थिति में सन्तुष्ट रह सकता है। उसे किसी निश्चित घर की भी अपेक्षा नहीं। वह वृक्ष के आश्रय में भी रह सकता है और महल में भी—कहीं उसकी आसक्ति नहीं होती। दृढ़ निश्चय और ज्ञान से युक्त होने के कारण उसे **स्थिरमति** कहा गया है। पूर्ववर्ती श्लोकों में भक्त के कुछ लक्षणों की पुनरावृत्ति इस बात पर बल देने के लिए है कि भक्त को इन गुणों का

अर्जन अवश्य-अवश्य करना है। सद्गुणों के बिना कोई शुद्धभक्त नही बन सकता। अभक्त मे कोई सद्गुण नहीं होता। अतः भक्त-पद की प्राप्ति के लिए उपरोक्त सद्गुणों का विकास करना चाहिए। यह अवश्य है कि इसके लिए कोई बाह्य प्रयास नहीं करना पड़ता; कृष्णभावना और भक्तियोग में मग्नता से इनका विकास अपने-आप हो जाता है।

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः।।२०।।

अनुवाद

जो मेरे परायण हुए, अर्थात् मुझे परम गति समझ कर विशुद्ध प्रेम से मेरी ही प्राप्ति के लिए ऊपर कहे हुए भक्तियोग के अमृतपथ का सेवन करते है, वे भक्त मेरे अतीव प्रिय है।।२०।।

तात्पर्य

इस अध्याय में जीव के सनातनधर्म—भक्तियोग की पद्धति का वर्णन है, जिसके द्वारा भगवत्प्राप्ति होती है। श्रीभगवान् को यह पथ अति प्रिय है; अतः इसके अनुगामी को भी वे अपना प्रिय मानते हैं। अध्याय के आरम्भ मे अर्जुन ने जिज्ञासा की थी कि निर्विशेष ब्रह्मनिष्ठ और भगवत्सेवापरायण भक्त मे कौन श्रेष्ठ है। श्रीभगवान् ने इसका इतना स्पष्ट उत्तर दिया कि इसमे कोई सन्देह नहीं रहा है कि भक्तियोग स्वरूप-साक्षात्कार का सर्वश्रेष्ठ मार्ग है। प्रकारान्तर से, इस अध्याय में निर्णय है कि जीव में सत्सग से शुद्ध भक्तियोग की उत्कण्ठा का उदय होता है। फिर सद्गुरु का आश्रय ग्रहण करने पर श्रवण-कीर्तन होने लगता है और श्रद्धा, रुचि और भक्ति-भाव के साथ वैधीभक्ति का आचरण करता हुआ शनैः-शनैः वह पूर्णतया भगवत्सेवा-परायण हो जाता है। इसी पथ का बारहवे अध्याय में उपदेश है। अस्तु, इसमें सन्देह नहीं कि भक्तियोग स्वरूप-साक्षात्कार और भगवत्प्राप्ति का ऐकान्तिक परम-पथ है। जैसा इस अध्याय मे कहा है, परम सत्य का निराकार स्वरूप तभी तक उपयोगी हो सकता है, जब तक मनुष्य स्वरूप-साक्षात्कार के पथ मे समर्पित नही हो जाता। भाव यह है कि जब तक शुद्धभक्त का सत्सग प्राप्त नही होता, तब तक ही निराकार धारणा लाभकारी हो सकती है। निराकारवादी निष्काम कर्म करता हुआ आत्मा और प्रकृति मे भेद को जानने के लिए ध्यान और ज्ञान मे प्रवृत्त रहता है। यह तभी तक आवश्यक है जब तक शुद्धभक्त का सत्सग न मिले। जिस सौभाग्यशाली मे सीधे-सीधे शुद्ध भक्तिभावमय कृष्णभावना के परायण हो जाने की उत्कण्ठा जागृत हो गयी हो, उसके लिए स्वरूप-साक्षात्कार का क्रमिक पथ निष्प्रयोजन हो जाता है। भगवद्गीता के मध्य के छः अध्यायों के अनुसार भगवद्भक्ति सर्वश्रेष्ठ सुखमयी है। भक्त को प्राणधारण के लिए आवश्यक पदार्थों की चिन्ता नही करनी पड़ती, वात्सल्यमयी

भगवत्कृपा उसके सम्पूर्ण योगक्षेम का स्वय वहन करती है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः।।१२।।

इति भक्तिवेदान्तभाष्ये द्वादशोऽध्याय.।।

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

प्रकृतिपुरुषविवेकयोग

(प्रकृति पुरुष तथा चेतना)

अर्जुन उवाच।
प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च।
एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव।।१।।
श्रीभगवानुवाच।
इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः।।२।।

अनुवाद

अर्जुन ने कहा, हे कृष्ण! मैं प्रकृति, पुरुष, क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, ज्ञान और ज्ञान के प्रयोजन का तत्त्व जानना चाहता हूँ। श्रीभगवान् ने कहा, हे कुन्तिनन्दन! यह शरीर क्षेत्र कहलाता है और इसे जो जानता है, उसे ज्ञानीजन क्षेत्रज्ञ कहते हैं।।१-२।।

तात्पर्य

अर्जुन प्रकृति, पुरुष, क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, ज्ञान और ज्ञान के प्रयोजन को जानना चाहता था। उसकी जिज्ञासा के उत्तर में श्रीकृष्ण ने कहा कि इस देह को क्षेत्र कहते हैं और इस देह को जानने वाला क्षेत्रज्ञ कहलाता है। यह देह क्षेत्र कहा जाता है, क्योंकि यह बद्धजीव का कार्यक्षेत्र है। संसार-बद्ध जीव माया पर प्रभुत्व करने का प्रयत्न करता है। अतः उसे ऐसा करने की अपनी योग्यता के उपयुक्त शरीररूपी कार्य-क्षेत्र मिलता है। यह शरीर इन्द्रियों का पुंज है। बद्धजीव को इन्द्रियतृप्ति की कामना है; अतः उसकी इन्द्रियतृप्ति करने की योग्यता के अनुसार उसे उपयुक्त देहरूपी कार्यक्षेत्र प्रदान किया जाता है। इसी कारण देह को बद्धजीव का क्षेत्र कहते हैं। देह को अपना स्वरूप न मानने वाला क्षेत्रज्ञ, अर्थात् देहरूपी क्षेत्र का ज्ञाता है। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, देह और देही के भेद को समझना कठिन नहीं है। कोई विचार करके देख सकता है कि यद्यपि बचपन से वृद्धावस्था तक उसके शरीर में अनेक परिवर्तन होते रहे हैं, किन्तु वह स्वयं वही अव्यय आत्मा है। अतएव क्षेत्रज्ञ और क्षेत्र में निश्चित भेद है। इस प्रकार बद्धजीव जान सकता है कि वह देह से भिन्न है। गीता के प्रारम्भ में कहा गया है, **देहेऽस्मिन्** अर्थात् जीवात्मा देह में है और वह देह कौमार से यौवन और यौवन से जरा को प्राप्त होती है। देह का स्वामी पुरुष (देही) इन देहगत विकारों को जानता है। देही निश्चित रूप से क्षेत्रज्ञ अर्थात् शरीररूपी क्षेत्र का ज्ञाता है। जीव को अनुभव होता है, 'मैं सुखी हूँ, मैं उन्मत्त हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं श्वान हूँ, मैं बिल्ली हूँ।' ये सभी क्षेत्रज्ञ क्षेत्र से भिन्न है। हम यह भलीभाँति जानते हैं कि अपने उपयोग के वस्त्र आदि सब पदार्थों से हम अलग हैं। इसी प्रकार विचार करने पर यह भी जान सकते हैं कि हम देह से अलग हैं।

भगवद्गीता के प्रथम छः अध्यायों में जीवात्मज्ञान का और परमात्मज्ञान के साधन का विवेचन है। सातवें से बारहवें अध्याय तक श्रीभगवान् का और भक्तियोग के सन्दर्भ में जीवात्मा और परमात्मा के परस्पर सम्बन्ध का वर्णन है। इन अध्यायों में श्रीभगवान् की महिमा और जीवात्मा की परवशता का विशद और स्पष्ट वर्णन है। जीव सब परिस्थितियों में सब प्रकार से श्रीभगवान् के वश में हैं। वास्तव में इस सत्य को भूल जाने से ही वे संसार में दुःख भोग रहे हैं। जब पुण्यकर्मों के प्रभाव से आलोक का उदय होता है तो वे आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु अथवा ज्ञानी के रूप में भगवान् श्रीकृष्ण के उन्मुख हो जाते हैं। इसका भी वर्णन हुआ है। अब, तेरहवें से अट्ठारहवें अध्याय तक के अन्तिम षटक में प्रकृति और पुरुष के संयोग के कारण का विवेचन है तथा कर्म, ज्ञान, भक्ति आदि विविध साधनों के माध्यम से श्रीभगवान् किस प्रकार

उसका उद्धार करते हैं—यह सब वर्णन है। जीव देह से बिल्कुल भिन्न है, फिर भी जैसे-तैसे देह से उसका सम्बन्ध हो जाता है। यह भी प्रतिपादन है।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम।।३।।

अनुवाद

हे भरतवंशी अर्जुन! मैं भी सब देहों (क्षेत्रों) को जानने वाला (क्षेत्रज्ञ) हूँ। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ को जो इस प्रकार जानना है वही ज्ञान है—ऐसा मेरा मत है।।३।।

तात्पर्य

इस देह (क्षेत्र) और देही (क्षेत्रज्ञ) एवं आत्मा और परमात्मा के तत्त्व-निरूपण मे परमात्मा, जीवात्मा और जड प्रकृति—इन तीन विषयों का विवेचन किया जायगा। प्रत्येक क्षेत्र मे दो आत्मा है—परमात्मा और जीवात्मा। परमात्मा श्रीकृष्ण का अंशरूप है। इसी कारण श्रीकृष्ण कहते हैं, 'मैं भी क्षेत्रज्ञ (देह का ज्ञाता) हूँ। परन्तु मै जीवात्मा नही हूँ, मै परम क्षेत्रज्ञ हूँ, इसलिए परमात्मा रूप से सब देहों मे हूँ।'

जो भगवद्गीता के अनुसार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के तत्त्व का सूक्ष्म रूप से अध्ययन करे, उसे पूर्ण ज्ञान की उपलब्धि हो सकती है।

श्रीभगवान् कहते हैं, 'मैं प्रत्येक जीव-देह में क्षेत्र को जानने वाला क्षेत्रज्ञ हूँ।' जीवात्मा अपने देह का ज्ञाता तो हो सकता है, पर अन्य देहो का ज्ञान उसे नहीं है। अन्तर्यामी परमात्मा रूप से सब देहो मे विद्यमान श्रीभगवान् ही उन सबके सम्बन्ध मे जानते है। जीवन की सभी योनियों की सारी देहो को वे जानते है। एक नागरिक को केवल अपनी ही भूमि की पूर्ण जानकारी हो सकती है, किन्तु राजा तो अपने महल के सम्बन्ध मे ही नहीं, बल्कि सारे नागरिकों की निजी सम्पत्ति के सम्बन्ध में भी जानता है। अत जीवात्मा किसी एक देह का स्वामी हो सकता है, जबकि परमेश्वर सब देहो के स्वामी है। राज्य पर मूल स्वत्व राजा का होता है, नागरिको का नही। ऐसे ही, श्रीभगवान् सब देहों के परम ईश्वर हैं।

देह इन्द्रियों से बनी है। परमेश्वर को हृषीकेश कहा जाता है, जिसका अर्थ हुआ कि वे इन्द्रियों के ईश्वर हैं। वे इन्द्रियों के मूल ईश्वर हैं, उसी प्रकार जैसे राज्य की सम्पूर्ण क्रियाओं का मूल नियामक राजा है और प्रजा उपनियन्ता मात्र है। श्रीभगवान् कहते हैं, 'मैं भी क्षेत्रज्ञ हूँ।' इसका अर्थ है कि वे परम-क्षेत्रज्ञ हैं, जबकि जीवात्मा तो केवलमात्र अपने देह को जानता है। वैदिक साहित्य में उल्लेख है:

क्षेत्राणि हि शरीराणि बीजं चापि शुभाशुभे।
तानि वेत्ति स योगात्मा ततः क्षेत्रज्ञ उच्यते।।

यह देह क्षेत्र है, क्षेत्रज्ञ के साथ इसमें परमात्मा भी निवास करते हैं; इसलिए वे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ—दोनों को भलीभाँति जानते हैं। इसी से उन्हें सब क्षेत्रों का ज्ञाता कहा है। क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ और परम-क्षेत्रज्ञ में भेद को निम्नलिखित प्रकार से हृदयंगम किया जा सकता है। देह, जीवात्मा और परमात्मा के स्वरूप की पूर्ण जानकारी की वैदिक शास्त्रों में 'ज्ञान' संज्ञा है। यह श्रीकृष्ण का भी मत है। जीवात्मा और परमात्मा के भेदाभेद को जान लेना ही ज्ञान है। जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ को तत्त्व से नहीं जानता, वह पूर्ण ज्ञानी नहीं हो सकता। इसके लिए प्रकृति, पुरुष तथा प्रकृति और जीवात्मा के नियंता, ईश्वर के तत्त्व को जानना होगा। इन तीनों तत्त्वों में भ्रम नहीं होना चाहिए। स्मरण रहे कि चित्रकार, चित्र और चित्राधार अलग-अलग हुआ करते हैं। यह प्राकृत-जगत् अर्थात् क्षेत्र प्रकृति है, जीव इस प्रकृति को भोगने वाला पुरुष है तथा इन दोनों के नियन्ता परम ईश्वर श्रीभगवान् हैं। वेदों में कहा है, **भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्।** ब्रह्मतत्त्व की तीन धारणायें हैं। प्रकृति भोग्य-ब्रह्म है, प्रकृति को भोगने वाला जीव भोक्ता-ब्रह्म है और इन दोनों का नियामक भी ब्रह्म है, पर वही वास्तव में ईश्वर है।

इस अध्याय में यह भी स्थापित किया गया है कि दोनों क्षेत्रज्ञों (ज्ञाताओं) में से एक क्षर है और दूसरा अक्षर है। एक स्वामी है तो दूसरा उसके परतन्त्र है। जो यह मानता है कि दोनों क्षेत्रज्ञ एक हैं, वह श्रीभगवान् के इस स्पष्ट कथन का खण्डन करता है कि 'मैं भी क्षेत्रज्ञ हूँ।' रज्जु को सर्प मान लेने वाला ज्ञानी नहीं कहा जा सकता। क्षेत्र (देह) अनेक प्रकार के होते हैं और क्षेत्रज्ञ (देही) भी एक से अधिक हैं। भिन्न-भिन्न जीवों में माया पर प्रभुत्व करने की योग्यता अलग-अलग मात्रा में होती है। अतः विविध योनियों का सृजन हुआ है। किन्तु जीव के साथ श्रीभगवान् भी ईश्वर-रूप से इन सब में हैं। **च** शब्द महत्त्वपूर्ण है। भाव यह है कि ईश्वरक्षेत्रज्ञ सब देहों में है। आचार्य श्रील बलदेव विद्याभूषण का कथन है कि जीवात्मा के अतिरिक्त श्रीकृष्ण स्वयं परमात्मा के रूप में प्रत्येक देह में हैं। श्रीकृष्ण ने यहाँ स्पष्ट कर दिया है कि परमात्मा—क्षेत्र और जीव-क्षेत्रज्ञ, दोनों का ईश्वर है।

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु।।४।।

अनुवाद

वह क्षेत्र जो है, जिस स्वरूप वाला है और जिन विकारों वाला है और जिस कारण से हुआ है एवं क्षेत्रज्ञ भी जिस स्वरूप और प्रभाव वाला है, वह सब मुझ से संक्षेप में सुन।।४।।

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः।।५।।

अनुवाद

वह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का ज्ञान ऋषियों द्वारा बहुत प्रकार से कहा गया है और नाना प्रकार के वैदिक मन्त्रों में विभागपूर्वक वर्णित है; विशेषरूप से कार्य-कारण की युक्तिसहित भलीभाँति निश्चित वेदान्तसूत्र के द्वारा कहा गया है।।५।।

तात्पर्य

भगवान् श्रीकृष्ण इस ज्ञान के परम प्रमाण हैं। तथापि, विद्वानों और प्रामाणिक आचार्यों की परिपाटी के अनुसार वे पूर्ववर्ती आचार्यों का प्रमाण उपस्थित करते हैं। जीव और परमात्मा में भेद है अथवा अभेद—इस परम विवादास्पद विषय का वे प्रामाणिक शास्त्रों, विशेषतः वेदान्त के आधार पर निर्णय कर रहे हैं। उनका पहला वाक्य है कि यह तत्त्व नाना ऋषियों को मान्य है। महर्षियों में प्रधान, व्यासदेव द्वारा प्रणीत 'वेदान्तसूत्र' ग्रन्थ से द्वैत पूर्ण रूप में सिद्ध हो जाता है। व्यासदेव के पिता महर्षि पराशर ने अपने धर्मग्रन्थ में कहा है, **अहं त्वं च अथान्ये . . .**, 'हम सभी अर्थात् मैं तुम और अन्य सब जीव, प्राकृत देह में स्थित होते हुए भी दिव्य हैं। अपने-अपने कर्मवश हम माया के गुणप्रवाह में पतित हो गए हैं। इसी से कुछ जीव सत्त्वादि उच्च योनियों में हैं तो कुछ को तमोमय अधम योनियाँ मिली हैं। अविद्या के कारण ही ये उच्च-निम्न गुण असंख्य जीवों में प्रकाशित हो रहे हैं। परन्तु अक्षर परमात्मा मायिक गुणों से मुक्त और प्रकृति से सर्वथा परे है।' इसी भाँति, मूल वेदों में, विशेषतः 'कठोपनिषद्' में जीवात्मा, परमात्मा और देह में भेद है।

श्रीभगवान् की शक्ति का एक अन्नमय प्रकाश है, अर्थात् जीवमात्र प्राण-धारण के लिए अन्न पर निर्भर करता है। इस रूप में परतत्त्व की जड़ (प्राकृत) अनुभूति होती है। अन्न में परतत्त्व का अनुभव करने पर, प्राण-लक्षण में उसका बोध होता है, अतः यह द्वितीय रूप प्राणमय कहा गया है। 'ज्ञानमय' स्वरूप में चेतना-लक्षण चिन्तन, संवेदन और संकल्प तक उन्नत होता है। इसके उपरान्त, 'ब्रह्म' तथा 'विज्ञानमय' स्वरूप का बोध होता है, जिससे जीवात्मा अपने को मन तथा जीवनचिह्नों से अलग अनुभव करता है। अगली और अन्तिम अवस्था का नाम 'आनन्दमय' है।

इस प्रकार 'ब्रह्मपुच्छम्' नाम ब्रह्मतत्त्व की अनुभूति के पाँच स्तर हैं। इनमें से प्रथम तीन—अन्नमय, प्राणमय और ज्ञानमय स्तर जड़ क्षेत्र से सम्बन्धित है। इन सब क्षेत्रो से अतीत परमेश्वर 'आनन्दमय' हैं। ब्रह्म (वेदान्त) सूत्र में भी परम सत्य को **आनन्दमयोऽभ्यासात्** कहा है। श्रीभगवान् स्वभाव से आनन्दमय हैं और अपने इसी दिव्य आनन्द का आस्वादन करने के लिए वे विज्ञानमय, ज्ञानमय, प्राणमय तथा अन्नमय आदि अंशरूप धारण करते हैं। इस देहरूपी क्षेत्र में जीवात्मा को क्षेत्रज्ञ (भोक्ता) समझा जाता है, किन्तु आनन्दमय परमात्मा उससे भिन्न है। इसका अर्थ है कि जो जीव आनन्दमय की परायणता में आनन्द भोगने का निश्चय करता है, वह कृतार्थ हो जाता है। यह ईश्वर-क्षेत्रज्ञ, जीव-क्षेत्रज्ञ और क्षेत्र का यथार्थ स्वरूप-चित्रण है।

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः।।६।।
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्।।७।।

अनुवाद

पंच महाभूत, अहकार, बुद्धि, अव्यक्त प्रकृति, दस इन्द्रियाँ, पाँच इन्द्रियविषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दु:ख, स्थूल देह, चेतना तथा धृति—इस प्रकार यह क्षेत्र विकारो सहित सक्षेप से कहा गया।।६-७।।

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः।।८।।
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ।।९।।
असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु।।१०।।
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ।।११।।
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा।।१२।।

अनुवाद

विनम्रता, दम्भाचरण का अभाव, प्राणीमात्र को किसी भी प्रकार से पीडित न करना, क्षमाभाव, मन-वाणी की सरलता, सद्गुरु के शरणागत होकर उनकी सेवा करना, भीतर-बाहर की शुद्धि, स्थिरता तथा आत्मसंयम, इन्द्रिय-भोगों में आसक्ति का अभाव, अहंकार का भी अभाव; जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधि में दुःख-दोषों को बारंबार चिन्तन करना; पुत्र, स्त्री तथा घर आदि में आसक्ति और ममता का न होना; अनुकूल और प्रतिकूल की प्राप्ति में चित्त की समता; निरन्तर मेरे शुद्ध और अनन्य भक्तियोग का आचरण, एकान्तवास, विषयी जनसमुदाय में प्रीति का अभाव, स्वरूप-साक्षात्कार में नित्य दृढ़ निष्ठा तथा परमसत्य का दार्शनिक अन्वेषण—इस सब को मैं ज्ञान घोषित करता हूँ। इससे विपरीत जो कुछ भी है, वह सब अज्ञान है।।८-१२।।

तात्पर्य

कभी-कभी अल्पज्ञ मनुष्य भ्रम से इस ज्ञानपथ को क्षेत्र का विकार समझ बैठते हैं। वास्तव में तो केवल यही ज्ञान का सच्चा पथ है। यदि इस मार्ग को अंगीकार कर लिया जाय, तो परम सत्य की प्राप्ति हो सकती है। यह पूर्ववर्णित दस तत्त्वों का विकार नहीं है, अपितु उनसे मुक्त होने का साधन है। ज्ञान-पद्धति के सम्पूर्ण विवरण में सबसे महत्त्वपूर्ण साधन का उल्लेख दसवें श्लोक में है—अनन्य भक्तियोग, जो सम्पूर्ण ज्ञान का पर्यवसान है। इसलिए यदि कोई दिव्य भगवत्सेवा नही करता, अथवा उस स्तर तक नही पहुँच पाता, तो शेष उन्नीस साधनों से उसे कोई विशेष लाभ नहीं हो सकता। दूसरी ओर, यदि वह पूणतया कृष्णभावनाभावित होकर भगवत्सेवा के परायण हो जाय तो ये सभी गुण उसमें स्वतः उदित हो जायेंगे। सातवें श्लोक के अनुसार सद्गुरु का आश्रय लेना आवश्यक है। जिस मनुष्य ने भक्तिपथ स्वीकार किया है, उसके लिए भी यह अनिवार्य है। पारमार्थिक जीवन का प्रारम्भ सद्गुरु की शरणागति से ही होता है। भगवान् श्रीकृष्ण यहाँ स्पष्ट शब्दों मे कह रहे है कि यह ज्ञान का पथ कल्याण का सच्चा मार्ग है। इसके विपरीत जो कुछ भी मनोधर्मी की जायगी, वह अनर्थकारी सिद्ध होगी।

ज्ञान के जिन साधनों यहाँ दिग्दर्शन है, उनका भाव इस प्रकार है। **अमानित्वम्** (विनम्रता) का अर्थ है कि दूसरे अपना सत्कार करें—ऐसी अपेक्षा न रखे। देहात्मबुद्धि के कारण हम दूसरो से सम्मान प्राप्ति के लिए बड़े आतुर रहते है, किन्तु देह से भिन्न अपने स्वरूप को पूर्ण रूप से जानने वाले की दृष्टि में देह से सम्बन्धित मान-अपमान निरर्थक हैं। इस विषय-मरीचिका के लिए लालायित

रहना योग्य नहीं। धर्मात्मा के रूप में आत्म-ख्याति की इच्छा भी साधारण लोगों में प्रबल रहती है। परिणामतः प्रायः देखा जाता है कि धर्म के तत्त्व को जाने बिना ही वे किसी ऐसे दल में, जो यथार्थ में धर्माचरण नहीं करता, सम्मिलित होकर धर्म-गुरु के रूप में अपना विज्ञापन किया करते हैं। अध्यात्मविद्या की उन्नति को नापने के लिए कोई न कोई उपयुक्त कसौटी होनी चाहिए। उपरोक्त गुणों का अन्त.करण में कितना विकास हुआ है, इस आत्म-परीक्षा से पारमार्थिक उन्नति को जाँचा जा सकता है।

सामान्यत. **अहिंसा** का तात्पर्य देह का वध अथवा नाश न करने के सीमित अर्थ में समझा जाता है। परन्तु वास्तव में अहिंसा का अर्थ किसी भी जीव को किसी भी प्रकार से पीड़ित न करना है। देहात्मबुद्धि के अज्ञान में बँधा मानवसमाज नित्य-निरन्तर सासारिक दु.खों को भोगता रहता है। अत. जो ज्ञान-प्रचार के द्वारा लोगों का उद्धार नही करता, वह हिंसक है। जनता में सच्चे ज्ञान के प्रचार में प्राण-पण से प्रयास करना चाहिए, जिससे वह इस भव-बन्धन से मुक्त हो सके। यही सच्ची अहिंसा है।

क्षान्तिः का तात्पर्य है कि दूसरों के तिरस्कार और अपमान को सहने का अभ्यास करे। जो अध्यात्म-ज्ञान का सेवन करता है, उसे दूसरो से प्रायः अपमानित होना पडता है। यह स्वाभाविक है, प्रकृति का स्वरूप ऐसा ही है। स्वरूप-साक्षात्कार के परायण प्रह्लाद जैसे पाँच वर्ष के बालक को भी अपने पिता के कारण महान् विपत्तियों का सामना करना पडा, क्योंकि वह उसके भक्तिभाव का विरोधी था। पिता ने नाना प्रकार से उसे मारने का प्रयत्न किया; परन्तु प्रह्लाद ने वह सब सहन कर लिया। इससे शिक्षा मिलती है कि ज्ञान-प्राप्ति के मार्ग में अनेक व्यवधान भी क्यों न आयें, पर हमें सहिष्णुता और धैर्यपूर्वक भक्ति में निष्ठ रहते हुए पारमार्थिक उन्नति करते रहना चाहिये।

मन-वाणी की सरलता **आर्जवम्** है। भाव यह है कि व्यवहार कुटिलता से रहित इतना सरल होना चाहिए कि शत्रु पर भी सत्य प्रकट किया जा सके। **आचार्योपासनम्**, अर्थात् सद्गुरु का पादाश्रय ग्रहण करने की विशेष महिमा है, क्योंकि सद्गुरु के उपदेश बिना अध्यात्म मे उन्नति नही हो सकती। पूर्ण दैन्यभाव से गुरु की शरण में जाकर सब प्रकार से उनकी सेवा करनी चाहिए। ऐसे शिष्य को श्रीगुरुदेव अपनी कृपा-सुधा-कादम्बिनी से आप्यायित कर देते हैं। गुरु श्रीकृष्ण के बाह्य-प्रकाश हैं। अत. यदि वे शिष्य पर कृपा करें तो विधिपालन के बिना ही वह तुरन्त उन्नति कर सकता है। जिसने सब प्रकार से गुरु की निष्कपट सेवा की है, उसके लिए विधि-विधान का पालन सुगमतर हो जाता है।

पारमार्थिक साधना के लिए **शौच**, अर्थात् बाहर-भीतर की शुद्धि आवश्यक है। बाह्य शुद्धि स्नानादि से हो जाती है, परन्तु भीतर की शुद्धि के लिए नित्य श्रीकृष्ण का चिन्तन और हरे

कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे, हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे महामन्त्र का कीर्तन करना आवश्यक है। इस साधन के द्वारा पूर्वकर्म रूपी मल से चित्त का मार्जन हो जाता है।

भगवत्प्राप्ति के दृढ़ निश्चय का नाम **स्थैर्यम्** अथवा 'स्थिरभाव' है। इस निष्ठा' के बिना यथार्थ प्रगति नहीं हो सकती। **आत्मविनिग्रहः** (संयम) का भाव यह है कि ऐसा कोई पदार्थ ग्रहण न करे, जो भगवत्प्राप्ति के पथ में उन्नति के प्रतिकूल हो। इसका अभ्यस्त होकर उन सभी प्राणी-पदार्थों को त्याग देना चाहिए, जो पारमार्थिक उन्नति के अनुकूल न हों। यही सच्ची त्याग-वृत्ति है। प्रबल इन्द्रियाँ सदा विषयभोग के लिए लालायित रहती हैं। इनकी अनावश्यक माँगों को पूर्ण करना उचित नहीं। इन्द्रियों की उतनी ही तृप्ति करनी चाहिए, जितना भगवत्प्राप्ति के पथ में उन्नति के लिए देह को स्वस्थ रखने के लिए आवश्यक हो। सब इन्द्रियों में रसना सबसे दुर्दमनीय है। यदि इस एक इन्द्रिय का निग्रह हो जाय तो अन्य सब इन्द्रियों का संयम सुगमता से हो सकता है। रसना के दो कार्य हैं—रसग्रहण और बोलना। अतएव इसे नियमित रूप से निरन्तर कृष्णप्रसान-ग्रहण और हरेकृष्ण कीर्तन में तत्पर रखना चाहिये। नेत्रों के द्वारा श्रीकृष्ण के मधुर विग्रह के अतिरिक्त अन्य कुछ भी देखने योग्य नहीं है। इससे नेत्रों का भी संयम हो जायगा। इसी भाँति, कर्णों को कृष्णकथा के श्रवण में और घ्राणेन्द्रिय को श्रीकृष्ण को अर्पित पुष्पों के आघ्राण में नियोजित रखे। यह भक्तियोग का पथ है और भगवद्गीता में स्पष्ट रूप से इसी भक्ति-विज्ञान का विशद प्रतिपादन है। अस्तु, भक्तियोग ही भगवद्गीता का एकमात्र प्रयोजन है। गीता के मूढ़ व्याख्याकार पाठक का चित्त अन्य विषयों में भ्रमित करने का प्रयत्न करते हैं; परन्तु वास्तव में तो भगवद्गीता में भक्तियोग के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

इस देह को अपना स्वरूप मानना **अहंकार** अथवा 'मिथ्या अभिमान' कहलाता है। देह से भिन्न अपने आत्मस्वरूप को जान लेना सच्चा अहंभाव है। अहंभाव सदा रहता है, उसे मिटाया नहीं जा सकता। इसलिए मिथ्या अहंकार की ही निन्दा की गयी है, सच्चे अहंभाव की नहीं। वेदों में कहा है, **अहं ब्रह्मास्मि**, अर्थात् 'मैं ब्रह्मतत्त्व आत्मा हूँ।' यह 'अहंभाव' स्वरूप-साक्षात्कार की मुक्तावस्था में भी रहता है, क्योंकि यह सत्य है। किन्तु जब अनित्य देह में अहंभाव हो जाता है, तो उसे मिथ्या-अहंकार कहते हैं। सत्य में आत्म-भाव (अहंभाव) का होना ही सच्चा अहंकार है। कुछ दार्शनिकों के मत में अहंता का पूर्ण त्याग करना होगा। परन्तु ऐसा करना सम्भव नहीं, क्योंकि अहंता का अर्थ है 'स्वरूप'। देह के आत्मभाव को तो त्यागना ही है।

जन्म, मृत्यु जरा और व्याधि की दुःखरूपता का बारम्बार चिन्तन करना चाहिये। वैदिक शास्त्रों में जन्म के दुःखों का वर्णन है। श्रीमद्भागवत में जन्म से पूर्व

के संसार का, मातृगर्भ में बालक के निवास का और वहाँ मिलने वाले दुःखों का बड़ा सजीव चित्रण है। यह गम्भीरतापूर्वक समझ लेना आवश्यक है कि इस संसार में जन्म होना परम दुःखमय है। मातृगर्भ के भीषण दुःख को भूल जाने के कारण ही हम बारम्बार जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्ति के लिए कोई साधन नहीं करते। जन्म की भाँति, मृत्युकाल में भी बहुत सी यन्त्रणायें भोगनी पड़ती है, जिनका प्रामाणिक शास्त्रों में उल्लेख है। इन पर अवश्य विचार करना चाहिए। रोग और वृद्धावस्था का व्यावहारिक अनुभव सभी को है। रोग अथवा जरा से कोई पीड़ित नहीं होना चाहता, फिर भी इनका निवारण नहीं किया जा सकता। जब तक मनुष्य जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधि के दुःखों को विचार कर विषयपरायण जीवन से निराश नहीं हो जाता, तब तक पारमार्थिक उन्नति का पथ प्रशस्त नहीं हो सकता।

पुत्र, स्त्री और घर आदि में अनासक्ति—**अनभिष्वंगः** का यह अर्थ नहीं कि इनके प्रति निष्ठुर हो जाय। ये सभी स्वाभाविक स्नेह के पात्र हैं; किन्तु परमार्थ के प्रतिकूल होने पर इनमे आसक्ति को बिल्कुल त्याग देना चाहिए। कृष्णभावना घर को सुखमय बनाने की सर्वोत्तम विधि है। पूर्णतया कृष्णभावनाभावित गृहस्थ इस सुखसाध्य साधन के द्वारा अपने घर-परिवार में परम सुख का विस्तार कर सकता है। इसके लिए चार साधनों की अपेक्षा है: **हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे, हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे** महामन्त्र का कीर्तन, कृष्णप्रसाद-सेवन, श्रीमद्भागवत और भगवद्गीता की वार्ता करना और मूर्तिपूजा। इन चार साधनों को करने वाला पूर्ण सुखी हो जाता है। बन्धु-बाधवों को भी इस भक्तियोग में शिक्षित करना चाहिए। सम्पूर्ण परिवार प्रातः और सायंकाल समवेत स्वर से **हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे, हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे** महामन्त्र का कीर्तन करे। यदि अपने पारिवारिक जीवन को इस प्रकार ढाला जा सके, जिससे इन चार साधनों के द्वारा कृष्णभावना की निरन्तर वृद्धि होती रहे, तो गृहस्थ आश्रम से संन्यास लेना आवश्यक नहीं। परन्तु यदि पारिवारिक जीवन परमार्थ के अनुकूल न हो, तो उसको त्याग देना चाहिए। श्रीकृष्ण की प्राप्ति अथवा सेवा के लिए अर्जुन के समान सर्वस्व त्याग कर देना चाहिए। प्रारम्भ में अर्जुन अपने सम्बन्धियों से युद्ध नहीं करना चाहता था; पर जब उसे बोध हुआ कि ये सम्बन्धी उसकी कृष्णप्राप्ति में बाधक हैं, तो श्रीकृष्ण के उपदेश के अनुसार युद्ध में अपने सब सम्बन्धियों का वध करने में उसने तनिक भी संकोच नहीं किया। सभी अवस्थाओं में पारिवारिक जीवन के दुःख-सुख से बिल्कुल अनासक्त रहना चाहिए, क्योंकि इस संसार में कोई भी पूर्ण रूप से सुखी अथवा दुःखी कभी नहीं होता। सुख-दुःख तो भवरोग के साथ लगे ही रहते हैं; अतः

भगवद्गीता का उपदेश है कि इन्हें धैर्यपूर्वक सहन करना चाहिए। सुख-दुःख के आने-जाने पर किसी का वश नहीं है। अतएव विषयों से विरत हो जाय; इससे इन द्वन्द्वों की प्राप्ति में अपने-आप समता बनी रहेगी। सामान्यतः अनुकूल वस्तु की प्राप्ति होने पर हम सुखी होते हैं, और प्रतिकूल पदार्थ की प्राप्ति से दुःख अनुभव करते हैं। परन्तु आत्मस्वरूप में परिनिष्ठित हो जाने पर इन वस्तुओं का हम पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। उस अवस्था की प्राप्ति के लिए अनन्य और अखण्ड भक्तियोग का आचरण करना है। नौवें अध्याय के अन्तिम श्लोक के अनुसार श्रवण, कीर्तन, अर्चन, वन्दन आदि नौ साधनों में संलग्न रहना अनन्य कृष्णभक्ति का स्वरूप है। इसी पथ का अनुसरण करना चाहिए। यह स्वाभाविक है कि भगवत्परायण पुरुष को विषयी मनुष्यों का संग अच्छा नहीं लगता, क्योंकि यह उसकी प्रकृति के विरुद्ध है। अपनी परीक्षा के लिए साधक को देखते रहना चाहिए कि अनर्थकारी कुसंग से रहित एकान्त में वह कहाँ तक रहना चाहता है। भक्त स्वभावतः अनावश्यक खेलों, चलचित्रों और सामाजिक उत्सवों में प्रीति नहीं रखता; वह पर्याप्त रूप से जानता है कि उनमें समय का अपव्यय ही होता है। ऐसे बहुत से शोधवेत्ता और दार्शनिक हैं, जो मैथुन आदि पर शोध किया करते हैं। भगवद्गीता के मत में इस शोधकार्य अथवा दार्शनिकता का कोई मूल्य नहीं; यह सब वस्तुतः अनर्थमय है। भगवद्गीता के अनुसार, दार्शनिक विवेक के द्वारा आत्मा के स्वरूप की ही गवेषणा करनी चाहिए। अध्यात्म के प्रयोजन का अन्वेषण करे, ऐसा यहाँ उपदेश है।

जहाँ तक स्वरूप-साक्षात्कार का सम्बन्ध है, भक्तियोग को स्पष्ट रूप से अधिक व्यावहारिक घोषित किया गया है। भक्ति का तात्पर्य परमात्मा और जीवात्मा के पारस्परिक सम्बन्ध से है। कम से कम भक्तियोग में तो परमात्मा और जीवात्मा एक नहीं हो सकते। अतएव पूर्वकथन के अनुसार जीवात्मा द्वारा परमात्मा की यह सेवा नित्य है। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि भक्तियोग शाश्वत् है। इस दार्शनिक निष्ठा में स्थिति का ही नाम ज्ञान है। इससे विपरीत जो कुछ भी है, वह सब अनर्थमय अज्ञान है।

श्रीमद्भागवत (१.२.११) के अनुसार, **वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयं ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।** 'परमसत्य के तत्त्वज्ञ जानते हैं कि उसकी अनुभूति, ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्—इन तीन स्वरूपों में होती है।' भगवान् परमसत्य की अनुभूति के शिखर हैं; अतएव श्रीभगवान् के तत्त्व को समझ कर उनकी भक्ति के परायण हो जाना चाहिए। ज्ञान की पूर्णता इसी में है।

यह पद्धति उस सीढ़ी के समान है, जिसका पहला सोपान विनम्रता है और अन्तिम सोपान भगवत्प्राप्ति है। कितने ही मनुष्य इस निःश्रेणी के प्रथम सोपान पर

हैं, कुछ दूसरे पर हैं और कुछ तीसरे सोपान तक पहुँच गए हैं, इत्यादि। परन्तु जब तक साधक कृष्णतत्त्व रूपी अन्तिम सोपान पर नहीं पहुँचता, तब तक उसका ज्ञान अपूर्ण ही रहता है। जो भगवान् से स्पर्धा रखते हुए भी ज्ञान-प्राप्ति करना चाहता है, उसके हाथ निराशा ही लगेगी। स्पष्ट उल्लेख है कि विनम्रभाव से शून्य बोध घातक है। अपने को ईश्वर मानना परम अभिमान का सूचक है। 'जीव नित्य-निरन्तर प्रकृति के दुस्तर नियमों का पाद-प्रहार खा रहा है, फिर भी अज्ञानवश मान बैठता है कि 'मैं ईश्वर हूँ।' अपने को श्रीभगवान् के आधीन जान कर सदा विनम्र रहना चाहिए। श्रीभगवान् से द्रोह करने के कारणवश ही जीव माया के अधीन हुआ है—इस सत्य को दृढ़ विश्वास सहित अवश्य धारण कर लेना चाहिए।

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते।।१३।।

अनुवाद

अब मैं उस जानने योग्य तत्त्व का वर्णन करूँगा, जिसे जान कर तू अमृत को प्राप्त हो जायगा। यह अनादि ब्रह्मतत्त्व मेरे आधीन है और इस जगत् के कार्यकारण से परे है।।१३।।

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति।।१४।।

अनुवाद

उस परमात्मा के हाथ, पैर, नेत्र, मुख और कान सब ओर हैं। इस प्रकार वह सबको व्याप्त करके स्थित है।।१४।।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च।।१५।।

अनुवाद

परमात्मा सब इन्द्रियों का मूल स्रोत होते हुए भी प्राकृत इन्द्रियों से रहित है; सम्पूर्ण प्राणियों का धारण-पोषण करता है, परन्तु आसक्तिरहित है; माया के गुणों से परे है और साथ ही उनका स्वामी भी है।।१५।।

तात्पर्य

जीवों की सम्पूर्ण इन्द्रियों के मूल होने पर भी परमेश्वर उनके समान प्राकृत

इन्द्रियों से युक्त नहीं हैं। वास्तव में तो जीव की इन्द्रियाँ भी अप्राकृत हैं। किन्तु बद्धावस्था में वे प्राकृत तत्त्वों से ढक गई हैं और इसी कारण इन्द्रिय-क्रियाओं की अभिव्यक्ति जड़ प्रकृति के द्वारा होती है। श्रीभगवान् की इन्द्रियाँ इस प्रकार कभी आवृत नहीं होतीं। उनकी इन्द्रियाँ सर्वथा अप्राकृत हैं, इसीलिए वे 'निर्गुण' कहलाते हैं। 'गुण' का अर्थ माया के त्रिविधगुणों से है। श्रीभगवान् की इन्द्रियाँ मायिक आवरण से मुक्त हैं, अतएव वे निर्गुण हैं। यह भलीभाँति समझ लेना चाहिए कि उनकी इन्द्रियाँ हमारी इन्द्रियों के समान नहीं है। हमारी सम्पूर्ण इन्द्रिय-क्रियाओ के होते हुए भी वे स्वयं दिव्य शुद्ध इन्द्रियों से युक्त हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् के **सर्वतः पाणिपादम्** श्लोक में इस तथ्य का अतिशय सुन्दर प्रतिपादन है। श्रीभगवान् के हाथ ऐसे नही हैं, जो माया-दूषित हो। वरन्, उनके अपने विशिष्ट दिव्य हाथ है, जिनसे वे सब समर्पण स्वीकार कर लेते हैं। बद्धजीव और परमात्मा में यही भेद है। श्रीभगवान् की प्राकृत आँखें नहीं है, पर साथ ही दिव्य नेत्र हैं; अन्यथा वे देखते कैसे ? उनकी इन्द्रियाँ साधारण नहीं है—वे सबके साक्षी, त्रिकालज्ञ और सर्वज्ञ है। जीव के हृदय में बैठे हुए वे हमारे भूत, वर्तमान तथा भविष्य के भी सभी कर्मों को जानते हैं। श्रीभगवद्गीता में अन्यत्र भी कथन है "वे सब कुछ जानते हैं, पर उनके तत्त्व को कोई नहीं जानता।'' कहा जाता है कि श्रीपरमेश्वर के हमारे जैसे चरण नही हैं। अप्राकृत चरणों से युक्त होने के कारण वे सम्पूर्ण अन्तरिक्ष का भ्रमण कर सकते हैं। भाव यह है कि परमेश्वर निर्विशेष-निराकार नहीं हैं। उनके अपने विलक्षण नेत्र, चरण, हाथ आदि हैं। हम श्रीभगवान् के भिन्न-अंश हैं, इसलिए हम भी इन अंगों से युक्त हैं। परन्तु श्रीभगवान् मे यह विशेषता है कि उनकी इन्द्रियों को प्रकृति (माया) कभी स्पर्श नहीं कर सकती।

श्रीभगवद्गीता में प्रमाण है कि श्रीभगवान् सदा अपनी योगमाया के द्वारा ही अवतरित होते हैं। वे त्रिगुणमयी माया के स्वामी हैं, अतः उससे दूषित नहीं होते। वैदिक शास्त्रों के अनुसार उनका स्वरूप सच्चिदानन्दमय है। वे सच्चिदानन्दविग्रह है। सम्पूर्ण ऐश्वर्यों से युक्त है तथा सम्पूर्ण श्री और शक्ति के अधीश्वर, परम बुद्धिमान् और ज्ञानमय हैं। ये श्रीभगवान् के कुछ लक्षण हैं। वे ही सम्पूर्ण जीवों के पालनकर्ता और कर्मों के साक्षी हैं। जहाँ तक वैदिक साहित्य से ज्ञात होता है, श्रीभगवान् नित्य मायातीत दिव्य पुरुष हैं। यद्यपि हमें उनके मुख, नेत्र, हाथ, पैर, आदि का दर्शन नहीं होता, परन्तु यह सत्य है कि वे इन अंगों से युक्त हैं। शुद्धसत्त्व में आरूढ़ हो जाने पर ही भगवत्‌रूप का दर्शन हो सकता है। वर्तमान में हमारी इन्द्रियाँ माया से दूषित हैं; इसलिए उनके रूप का दर्शन नहीं हो रहा है। यही कारण है कि

मायाबद्ध निर्विशेषवादी श्रीभगवान् के तत्त्व को हृदयंगम नहीं कर पाते।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्।।१६।।

अनुवाद

परमसत्य चराचर में, बाहर-भीतर सर्वत्र परिपूर्ण है; सूक्ष्म होने के कारण वह प्राकृत इन्द्रियों के जानने-देखने में नहीं आता; परन्तु दूर होने के साथ ही वह सबके समीप भी है।।१६।।

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च।।१७।।

अनुवाद

अलग-अलग जीवों में पृथक्-पृथक् रूप से स्थित लगता हुआ भी परमात्मा वास्तव में नित्य विभागरहित है। उसे ही सम्पूर्ण प्राणियों का जन्मदाता, पालक और संहार करने वाला जानना चाहिए।।१७।।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्।।१८।।

अनुवाद

वह ज्योतिर्वानों की ज्योति का स्रोत है, माया के अन्धकार से अति परे अगोचर है। वही ज्ञानस्वरूप, जानने योग्य और तत्त्वज्ञान से प्राप्त होने वाला है। वह सब के हृदय में बैठा है।।१८।।

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते।।१९।।

अनुवाद

इस प्रकार क्षेत्र (देह), ज्ञान और जानने योग्य तत्त्व का स्वरूप मेरे द्वारा संक्षेप से कहा गया। केवल मेरा भक्त ही इसे जान सकता है और इस प्रकार जान कर मेरे स्वभाव को प्राप्त हो जाता है।।१९।।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान्।।२०।।

अनुवाद

हे अर्जुन! प्रकृति और जीव दोनों को ही अनादि जान; उनके विकारों और त्रिविध गुणों को प्रकृति से उत्पन्न हुआ जान।।२०।।

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते।।२१।।

अनुवाद

प्रकृति सम्पूर्ण प्राकृत कार्य-कारणों की हेतु कही गयी है और पुरुष (जीवात्मा) इस संसार में विविध सुख-दुःखों के भोगने में हेतु है।।२१।।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु।।२२।।

अनुवाद

प्रकृति में स्थित जीवात्मा ही प्रकृति से उत्पन्न तीनों गुणों को भोगता है। गुणों का यही संग इस जीवात्मा के उत्तम-अधम योनियों में जन्म का कारण है।।२२।।

तात्पर्य

जीव के देहान्तर की प्रक्रिया को समझने के लिए यह श्लोक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। द्वितीय अध्याय में कहा है कि वस्त्र बदलने की भाँति जीवात्मा एक देह को त्याग कर अन्य देह धारण कर लेता है। इस देहान्तर का कारण संसार में उसकी आसक्ति ही है। जब तक वह इस अनित्य जगत् पर मुग्ध रहता है, तब तक निरन्तर देहान्तर करता रहता है। प्रकृति पर प्रभुत्व की इच्छावश उसे अवांछनीय योनियों की प्राप्ति भी होती है। विषयवासना के प्रभाव से उसे कभी देव-शरीर मिलता है, तो कभी मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, जलचर, सन्त अथवा कृमि आदि योनियों में जन्म होता है। यह क्रम अविराम चल रहा है। अच्छी-बुरी सब अवस्थाओं में जीव अपने को वातावरण का स्वामी समझता है, जबकि वास्तव में वह सब प्रकार से प्रकृति के आधीन है।

जीव को विभिन्न योनियों की प्राप्ति के कारण का यहाँ निर्देश है। वास्तव में इसका कारण प्रकृति के गुणों का संग ही है। अतएव यह आवश्यक है कि वह माया के त्रिविध गुणों से मुक्त हो कर शुद्धसत्त्व में स्थित हो जाय। इसी का नाम 'कृष्णभावनामृत' है। जब तक जीव कृष्णभावनाभावित नहीं हो जाता, तब तक उसकी मति अनादिकालीन विषयवासना से दूषित रहेगी, जिसके परिणामस्वरूप वह देहान्तर करता रहेगा। अतएव इस वर्तमान मति को बदलना है। यह केवल प्रामाणिक आचार्यों

के मुखारविन्द से भगवत्-कथा सुनने से होगा। इसका सर्वोत्तम आदर्श स्वयं अर्जुन है—वह भगवान् श्रीकृष्ण से भगवत्-विज्ञान का श्रवण कर रहा है। इस पकार का श्रवण-परायण जीव माया पर प्रभुत्व की अपनी चिरकालीन इच्छा से शनैः-शनैः मुक्त हो जायगा। जैसे-जैसे प्रभुत्व-कामना क्षीण होगी, वैसे,वैसे ही वह अलौकिक अनिर्वचनीय सुख का आस्वादन करेगा। एक वैदिक मंत्र में उल्लेख है कि श्रीभपवान् के संग में वह जैसे-जैसे तत्त्व को जानता जाता है, वैसे ही अपने सच्चिदानन्दमय जीवन का आस्वादन करता है।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः।।२३।।

अनुवाद

इस देह में जीव के साथ एक परात्पर भोक्ता भी है, जो सब का परम ईश्वर, साक्षी और अनुमति देने वाला है और जो परमात्मा कहलात. है।।२३।।

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते।।२४।।

अनुवाद

इस प्रकार जो जीवात्मा और गुणों सहित प्रकृति के तत्त्व को जानता है, उसकी मुक्ति निश्चित है। वह वर्तमान में किसी भी स्थिति में हो, परन्तु उसका पुनर्जन्म नहीं होता।।२४।।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे।।२५।।

अनुवाद

उस परमात्मा को कितने ही मनुष्य विशुद्ध चित्त से ध्यान करते हुए हृदय में देखते हैं, तो दूसरे ज्ञान और निष्काम कर्मयोग के द्वारा देखते हैं।।२५।।

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः।।२६।।

अनुवाद

ऐसे भी हैं, जो स्वयं इस ज्ञान को नहीं जानते, परन्तु दूसरों से सुनकर ही

परमपुरुष श्रीभगवान् की भक्ति में तत्पर हो जाते हैं। ये आचार्यों का श्रवण करने के परायण मनुष्य भी जन्म-मृत्यु के सागर से तर जाते हैं।।२६।।

तात्पर्य

यह श्लोक आधुनिक समाज पर विशेष रूप से घटता है। आज के समाज में ज्ञान की शिक्षा का बिल्कुल अभाव-सा हो रहा है। कुछ मनुष्य अनीश्वरवादी प्रतीत होते हैं तो कुछ अज्ञेयतावादी और कुछ दार्शनिक हैं। परन्तु वास्तव में देखा जाय तो दर्शन (तत्त्व) का ज्ञान किसी को भी नहीं है। जहाँ तक किसी साधारण मनुष्य का प्रश्न है, यदि वह पुण्यात्मा है तो श्रवण के द्वारा पारमार्थिक उन्नति कर सकता है। अतएव श्रवण-पद्धति की बड़ी महिमा है। आधुनिक जगत् में कृष्णभावना के प्रवर्तक श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रवण-भक्ति को बड़ा महत्त्व दिया है। उनके अनुसार यदि साधारण मनुष्य प्रामाणिक आचार्यों से कथा का और विशेष रूप से **हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे, हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे** महामन्त्र के दिव्य कीर्तन का श्रवण करे, तो वह पारमार्थिक उन्नति कर सकता है। अतएव परामर्श है कि सभी मनुष्य भगवत्प्राप्त महापुरुषों से कथा-श्रवण करें और इस प्रकार शनैः-शनैः पूर्ण ज्ञान की अवस्था को प्राप्त हो जाएँ। ऐसे में श्रीभगवान् की उपासना अवश्य होगी। श्रीचैतन्य महाप्रभु का उपदेश है कि इस युग में किसी के लिए अपने आश्रम-धर्म को बदलना आवश्यक नहीं, परमसत्य को मनोधर्म सें जानने के प्रयास को त्यागने की ही आवश्यकता है। जो भगवत्-तत्त्व को जानते हों, उनका दास बनने का यत्न करना चाहिए! यदि किसी को सौभाग्यवश शुद्धभक्त का पादाश्रय प्राप्त हो जाता है तथा उन महापुरुष से स्वरूप-साक्षात्कार के साधन का श्रवण कर वह भी उनके चरणचिह्नों का अनुसरण करने लगता है, तो इसमें सन्देह नहीं कि यथासमय वह स्वयं भी शुद्धभक्त बन जायगा। इस श्लोक में श्रवण-भक्ति के माहात्म्य का विशेष रूप से उल्लेख है और यह सब प्रकार से ठीक भी है। साधारण मनुष्य दार्शनिक कहलाने वाले मनोधर्मियों के समान योग्य नहीं समझा जाता; किन्तु प्रामाणिक पुरुष के मुख से कथा को सुनकर वह इस भवसागर से सुगमतापूर्वक पार होकर अपने घर, भगवान् के पास लौट सकता है।

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजंगमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ।।२७।।

अनुवाद

हे अर्जुन! जो कुछ भी चर-अचर दिखता है, उस सब को तू क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ

के संयोग से उत्पन्न जान।।२७।।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति।।२८।।

अनुवाद

जो सब देहों में जीवात्मा के साथ परमात्मा को भी देखता है और जो यह जानता है कि चराचर भूतों का नाश होने पर भी जीवात्मा और परमात्मा का कभी नाश नहीं होता, वही वास्तव में देखता है।।२८।।

तात्पर्य

जो पुरुष सत्संग के द्वारा देह, देही जीवात्मा और जीवात्मा के सखा (परमात्मा) का तत्त्व जान जाता है, वह सच्चा ज्ञानी है। जीव के सखा को न जानने वाले वस्तुतः अज्ञानी हैं। वे केवल देह को ही देखते हैं और देह का नाश होने पर समझते हैं कि सब कुछ नष्ट हो गया। परन्तु यथार्थ वस्तुस्थिति इससे भिन्न है। देह का नाश हो जाने पर भी जीवात्मा और परमात्मा का अस्तित्त्व अविकृत रहता है, वे नित्य-निरन्तर विविध चराचर योनियाँ धारण करते रहते हैं। **परमेश्वरम्** शब्द को कभी-कभी जीवात्मा का वाचक मान लिया जाता है, क्योंकि जीवात्मा देह का स्वामी है और देह का नाश होने पर देहान्तर करता है। इस दृष्टि से वह भी ईश्वर है। किन्तु परम्परागत आचार्यों के अनुसार **परमेश्वर** पद परमात्मा का वाचक है। दोनों दृष्टियों से परमात्मा और जीवात्मा नित्य बने रहते हैं; उनका नाश कभी नहीं होता। जो ऐसा देखता है, वही तत्त्वदर्शी है।

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्।।२९।।

अनुवाद

जो पुरुष परमात्मा को जीवमात्र में समभाव से स्थित देखता है, वह चित्त के द्वारा अपने अधःपतन का कारण नहीं बनता और इस प्रकार परमगति को प्राप्त हो जाता है।।२९।।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति।।३०।।

अनुवाद

जो पुरुष सम्पूर्ण कर्मों को प्रकृति से उत्पन्न देह द्वारा किए हुए देखता है और

आत्मा को अकर्ता देखता है, वही यथार्थ में देखता है।।३०।।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा।।३१।।

अनुवाद

जब विवेकी पुरुष प्राकृत देहों में भेद के कारण प्रतीत होने वाले स्वरूपों के भेद को नहीं देखता और परमात्मा से ही सब का विस्तार देखता है, तब वह ब्रह्मतत्त्व को प्राप्त हो जाता है।।३१।।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते।।३२।।

अनुवाद

शाश्वत् तत्त्व के द्रष्टा जानते हैं कि आत्मा दिव्य, सनातन और माया से परे है। हे अर्जुन! प्राकृत शरीर में स्थित होने पर भी यह आत्मा न तो कुछ करता है और न लिपायमान ही होता है।।३२।।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते।।३३।।

अनुवाद

जैसे सर्वव्यापक होते हुए भी आकाश सूक्ष्मता के कारण किसी से लिपायमान नहीं होता; उसी भाँति, शरीर में स्थित होने पर भी ब्रह्मभूत जीव शरीर से लिप्त नहीं होता।।३३।।

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत।।३४।।

अनुवाद

हे अर्जुन! जिस प्रकार एक अकेला सूर्य सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता है, वैसे ही शरीर में स्थित एक आत्मा सम्पूर्ण शरीर को चेतना से आलोकित करता है।।३४।।

तात्पर्य

चेतना के सम्बन्ध में नाना मत हैं। यहाँ भगवद्‌गीता में सूर्य और सूर्य-प्रकाश

का दृष्टान्त है। एक देश में स्थित होते हुए भी सूर्य सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता है। इसी भाँति, देह के हृदय-देश में स्थित अणु-आत्मा सिर से पैर तक इस सारे शरीर को चेतना से आलोकित करता है। अतएव चेतना आत्मा की उपस्थिति का प्रमाण है, उसी प्रकार जैसे सूर्यप्रभा से सूर्य का होना सिद्ध होता है। जब तक आत्मा देह में रहता है, तब तक सम्पूर्ण देह में चेतना व्याप्त रहती है; आत्मा के चले जाते ही तत्क्षण चेतना सर्वथा विलुप्त हो जाती है। कोई भी विवेकी पुरुष यह सुगमता से समझ सकता है। अतएव सिद्ध होता है कि चेतना जड़ प्राकृतिक तत्त्वों के समुच्चय से उत्पन्न नहीं हुई है; अपितु, वह तो आत्मा का स्वरूप-लक्षण है। परमात्मा की चेतना से चिद्गुणों में एक होने पर भी जीवात्मा की चेतना सर्वोपरि नहीं है। जीव व्यष्टि-चेतन है, अर्थात् उसकी चेतना किसी एक देह तक सीमित है, जबकि परमात्मा समष्टि-चेतन है—जीवात्मा के सखारूप में सब देहों में व्याप्त है। यह परम-चेतना और जीव-चेतना का अन्तर है।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्।।३५।।

अनुवाद

इस प्रकार देह (क्षेत्र) और देही (क्षेत्रज्ञ) के भेद को तथा इस बन्धन से मुक्ति के साधन को जो पुरुष ज्ञानदृष्टि के द्वारा तत्त्व से जानते हैं, वे मेरे परमधाम को प्राप्त हो जाते हैं।।३५।।

तात्पर्य

तेरहवें अध्याय का सार क्षेत्र, जीव-क्षेत्र और परमात्मा-क्षेत्रज्ञ में भेद को जानना है। श्रद्धालु को चाहिए सब से पहले भगवत्कथा का श्रवण करने के लिए सत्सग करे। इस प्रकार वह शनैः-शनैः प्रबुद्ध हो जाएगा। सद्गुरु के आश्रय में उस विवेक की प्राप्ति होती है, जिसके द्वारा आत्मा और जड़ प्रकृति में भेद किया जा सकता है। यही भगवत्प्राप्ति का प्रथम चरण है। गुरुदेव शिष्यो को नाना प्रकार के उपदेशों द्वारा देहात्मबुद्धि से मुक्त होने की शिक्षा देते है। जैसे, भगवद्गीता में हम देखते हैं कि श्रीकृष्ण अर्जुन को सांसारिक चिन्ता से मुक्त करने के लिए उपदेश कर रहे हैं।

यह समझना कठिन नहीं है कि यह देह अचित् जड़ तत्त्व है। इसकी उत्पत्ति चौबीस स्थूल तत्त्वों से हुई है, जिनका विश्लेषण किया जा सकता है। देह स्थूल अभिव्यक्ति है, जबकि मन और उसके विकार सूक्ष्म अभिव्यक्ति हैं। जीवन के लक्षण इन्हीं तत्त्वों की अन्तर्क्रिया हैं। परन्तु इन सब के ऊपर आत्मा है और उसके ऊपर

परमात्मा है। आत्मा और परमात्मा में निश्चित भेद है। यह प्राकृत-जगत् आत्मा और चौबीस प्राकृत तत्त्वों के योग से कार्य कर रहा है। जो पुरुष आत्मा और प्राकृत तत्त्वों के इस समुच्चय के रूप में सम्पूर्ण प्राकृत सृष्टि के स्वरूप को देखता है, वह परमात्मा की स्थिति को भी देख सकता है और इस प्रकार वैकुण्ठ-जगत् में प्रवेश के योग्य हो जाता है। यह तत्त्व गम्भीर चिन्तन-मनन और साक्षात्कार का विषय है। अतएव गुरुदेव के आश्रय में इस अध्याय को पूर्ण रूप से हृदय में धारण कर लेना चाहिए।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे प्रकृतिपुरुषविवेकयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः।।१३।।

इति भक्तिवेदान्त भाष्ये त्रयोदशोऽध्यायः।।

अथ चतुर्दशोऽध्याय:

गुणत्रयविभागयोग

(त्रिगुणमयी माया)

श्रीभगवानुवाच।
परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः।।१।।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, हे अर्जुन! तेरे लिए सम्पूर्ण ज्ञानों में भी उत्तम परम ज्ञान को फिर कहूँगा, जिसे जानकर सब मुनिजन इस संसार से परम संसिद्धि को प्राप्त हुए हैं।।१।।

तात्पर्य

श्रीकृष्ण ने सातवें अध्याय से बारहवें अध्याय तक परमसत्य भगवान् के तत्त्व का विशद वर्णन किया है। अब वे स्वयं अर्जुन को आगे प्रबुद्ध करते हैं। यदि इस अध्याय को ज्ञान की पद्धति से धारण किया जाय तो निष्कर्ष रूप में भक्तियोग का

बोध हो जायगा। तेरहवें अध्याय में स्पष्ट किया है कि विनम्रभाव के द्वारा ज्ञान को विकसित करने मे भवबन्धन से मुक्ति हो सकती है। यह भी वर्णन हुआ है कि जीव इस संसार में गुणों के संग के कारण बद्ध है। अब इस अध्याय में, श्रीभगवान् बताते हैं कि गुण वस्तुतः क्या हैं? किस प्रकार कार्य करते हैं? कैसे बन्धनकारी होते हैं? और इनसे मुक्ति का क्या साधन है? श्रीभगवान् ने इस अध्याय में वर्णित ज्ञान को इससे पूर्व के अध्यायों में कहे ज्ञान से उत्तम कहा है। जिस ज्ञान को हृदयंगम करके मुनिजन संसिद्धि लाभ कर वैकुण्ठ-जगत् में प्रविष्ट हो जाते हैं, श्रीभगवान् उसी ज्ञान को अधिक स्पष्टरूप से कह रहे हैं। यह ज्ञान अब तक वर्णित ज्ञान की अन्यान्य पद्धतियों से कहीं श्रेष्ठ है; इसे जानकर कितने ही मनुष्य कृतार्थ हो चुके हैं। अतः आशा है कि जो इस चौदहवें अध्याय को आत्मसात् कर लेगा, वह परम संसिद्धि को प्राप्त हो जायगा।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च।।२।।

अनुवाद

इस ज्ञान के आश्रित पुरुष मेरी दिव्य प्रकृति को प्राप्त हो जाते हैं। जो इस प्रकार निष्ठ हैं, वे सृष्टिकाल मे जन्म नहीं लेते और न प्रलय के समय ही व्याकुल होते हैं।।२।।

तात्पर्य

जिसे पूर्ण ज्ञान हो जाता है, वह पुरुष चिद्गुणों में श्रीभगवान् की समानता प्राप्त कर लेता है और परिणाम में जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्त हो जाता है। परन्तु उसके जीवस्वरूप का नाश नहीं होता। वैदिक शास्त्रों से ज्ञात होता है कि वैकुण्ठ-जगत् में प्रविष्ट जीवन्मुक्त महापुरुष भी प्रेममयी भगवत्सेवा के परायण हुए नित्य-निरन्तर भगवच्चरणारविन्द के दर्शनों के लिए उत्कण्ठित रहते हैं। अतएव मुक्तावस्था में भी भक्तों के निज स्वरूप का नाश नहीं होता।

प्राकृत-जगत् में सामान्यतः जो भी ज्ञान होता है, वह सब माया के गुणों द्वारा दूषित है। जो ज्ञान इस प्रकार गुणों द्वारा दूषित नहीं है, वही परम ज्ञान है। उस परम ज्ञान से युक्त होते ही श्रीभगवान् से समकक्षता हो जाती है। जिन्हें वैकुण्ठ-जगत् का कोई ज्ञान नहीं है, वे ही यह धारणा रखते हैं कि पार्थिक देहाकार की प्राकृत क्रियाओं से छूटने पर जीव का आत्मस्वरूप सविशेषता से रहित निराकार हो जाता है। वास्तव में प्राकृत-जगत् की भाँति वैकुण्ठ-जगत् भी सविशेष है। जो यह नहीं जानते, वे समझते

हैं कि वैकुण्ठ-जगत् में सविशेषता नहीं हो सकती, क्योंकि ये दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। वस्तुस्थिति यह है कि परव्योम में अप्राकृत देह मिलती है। वहाँ दिव्य क्रियाएँ भी होती है और इस दिव्य अवस्था को ही भक्तिमय जीवन कहा जाता है। वहाँ का परिमण्डल परम विशुद्ध है तथा चिद्गुणों की दृष्टि से जीव और परमेश्वर में वहाँ समानता है। ऐसे ज्ञान की उपलब्धि के लिए सब प्रकार के दैवी गुणों का विकास करना होगा। इस प्रकार के दैवी गुणों वाला पुरुष न तो प्राकृत-जगत् के सृजन से और न संहार से ही प्रभावित होता है।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत।।३।।

अनुवाद

हे अर्जुन ! मेरी महद्ब्रह्म नामक प्रकृति सब प्राणियों की योनि है और मैं उसमें चेतन रूप जीवों का गर्भाधान करता हूँ। इस जड़-चेतन के संयोग से सब प्राणियों की उत्पत्ति होती है।।३।।

तात्पर्य

यह ससार किस कारण से है, इसका यहाँ वर्णन है। ससार में जो कुछ सृष्टि होती है, उसमे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, अर्थात् जड़ और चेतन का संयोग कारण है और यह संयोग कराते हैं स्वयं श्रीभगवान्। महत्तत्त्व सम्पूर्ण प्रपंच का कारण है। इसमें सत्त्व आदि तीन गुण है; इसलिए इसे 'ब्रह्म' भी कहा जाता है। श्रीभगवान इसी महतत्त्व में गर्भाधान करते हैं; इससे असंख्य ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति होती है। महत्तत्त्व को वैदिक शास्त्रें में स्थान-स्थान पर 'ब्रह्म' कहा है, **तस्मादेतद्ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते।** उस ब्रह्मरूप प्रकृति मे परमपुरुष श्रीभगवान् जीवरूप बीजो का गर्भाधान करते हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि चौबीस तत्त्व महद्ब्रह्म नामक प्रकृति के अन्तर्गत ही है। जैसा सातवें अध्याय मे उल्लेख है, इससे परे एक अन्य जीवरूपा परा प्रकृति भी है। श्रीभगवान् के संकल्प से अपरा और परा प्रकृति का सयोग होता है, तत्पश्चात् सब प्राणियों की प्रकृति से उत्पत्ति होती है।

बिच्छु अपने अण्डे धान के ढेर में देता है, जिससे कभी-कभी यह समझ लिया जाता है कि उसका जन्म धान से हुआ है। परन्तु यथार्थ में, धान बिच्छु के जन्म का कारण नहीं है, उसकी माँ धान में अण्डे देती है। इसी प्रकार, प्रकृति जीवों के जन्म का कारण नहीं है। वास्तव में उनका बीज श्रीभगवान् देते हैं, प्रकृति से तो वे केवल उत्पन्न होते दिखते हैं। जीवमात्र को पूर्वकर्म के अनुसार प्रकृति द्वारा रचित देह मिलती

है, जिससे वह कर्मानुसार सुख-दुःख भोगता है। इस प्राकृत-जगत् में जीवों की सब अभिव्यक्तियों के कारण श्रीभगवान् ही हैं।

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता।।४।।

अनुवाद

हे अर्जुन! सब प्रकार की योनियों में जितने भी शरीर उत्पन्न होते हैं, उन सब की महद्ब्रह्म प्रकृति तो उत्पत्ति का स्थान, अर्थात् माता है और मैं बीज का गर्भाधान करने वाला पिता हूँ।।४।।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्।।५।।

अनुवाद

हे अर्जुन! प्रकृति के सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण प्रकृति के संग में स्थित निर्विकार जीवात्मा को देह में बाँधते हैं।।५।।

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ।।६।।

अनुवाद

हे निष्पाप अर्जुन! उन तीनों गुणों में सत्त्वगुण तो सबसे निर्मल, ज्ञान का प्रकाशक और सम्पूर्ण विकारों से मुक्त है। इसमें स्थित पुरुषों में ज्ञान का विकास होता है; परन्तु वे भी सुख और ज्ञान की उपाधि से बँध जाते हैं।।६।।

तात्पर्य

प्रकृतिस्थ जीव अनेक प्रकार के हैं। कोई सुखी है, तो दूसरा असहाय है, कोई बड़ा कर्मठ है तो कोई निष्क्रिय है। इस प्रकार के लक्षणों के रूप में प्रकट होने वाले गुण ही प्रकृति में जीव की बद्धावस्था के कारण हैं। जीवों को किस गुण से कौन सा बन्धन होता है, यह इस अध्याय में वर्णन है। सर्वप्रथम सत्त्वगुण पर विचार किया जाता है। प्राकृत-जगत् में जिसमें सत्त्वगुण का विकास होता है, वह अन्य बद्धजीवों की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान् हो जाता है। सत्त्वगुणी मनुष्य लौकिक दुःखों से अधिक प्रभावित नहीं होता; उसमें यह भाव रहता है कि मैं सुखी हूँ, मैं ज्ञानी हूँ। ब्राह्मण

इस कोटि का प्रतीक है। सुख के इस भाव का कारण यह है कि सत्त्वगुण में पाप कर्मफल का प्रायः अभाव रहता है। वास्तव में वैदिक शास्त्रों में उल्लेख भी है कि सत्त्वगुण का अर्थ अधिक सुख और अधिक ज्ञान है।

यहाँ एक कठिनाई है। सत्त्वगुण में जीव को यह अभिमान हो जाता है कि वह ज्ञानी है, औरों से श्रेष्ठ है। इसी उपाधि से वह बँधता है। इसके अच्छे उदाहरण आधुनिक वैज्ञानिक और दार्शनिक हैं। उनमें अपने ज्ञान का बड़ा अभिमान है और जीवनयापन की अधिक सुविधाओं के कारण वे एक प्रकार के प्राकृत सुख का अनुभव करते भी हैं। इससे वे सत्त्वगुण में कार्य करने में आसक्त हो जाते हैं। जब तक यह आसक्ति रहेगी, तब तक उन्हें प्रकृति के गुणों से बना किसी न किसी प्रकार का शरीर धारण करना पड़ेगा। ऐसे में मुक्ति अथवा वैकुण्ठ-जगत् की प्राप्ति नहीं हो सकती। बारंबार दार्शनिक, वैज्ञानिक अथवा कवि बनना पड़ेगा, जिससे जन्म-मृत्यु का दुःखमय चक्र अविराम चलता रहेगा। फिर भी, मायाजनित मोह के वश जीव ऐसे जीवन को सुखदायी समझता है।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम्।।७।।

अनुवाद

और हे अर्जुन ! कामजनित रजोगुण को तृष्णा और आसक्ति से उत्पन्न जान। यह जीवात्मा को सकामकर्म की आसक्ति से बाँधता है।।७।।

तात्पर्य

रजोगुण का स्वरूप स्त्री और पुरुष में एक दूसरे के प्रति होने वाला आकर्षण है। स्त्री पुरुष में राग रखती और पुरुष का स्त्री में राग है—यही रजोगण है। इस रजोगुण की वृद्धि होने पर विषयतृष्णा जागृत होती है, जिससे रजोगुणी इन्द्रियतृप्ति के लिए उन्मत्त हो उठता है। इन्द्रियों की तृप्ति के लिए वह समाज अथवा राष्ट्र में सम्मान तथा सुख, परिवार, पुत्र, कलत्र, गृह आदि विषयों की स्पृहा करता है। ये सब रजोगुण के कार्य हैं। जब तक इन पदार्थों की तृष्णा बनी रहती है, तब तक कठोर परिश्रम करना पड़ता है। इसीलिए यहाँ स्पष्ट कहा है कि वह अपने कर्मों के फल में आसक्ति के कारण बँध जाता है। स्त्री, पुत्र और समाज की प्रसन्नता के लिए और अपनी प्रतिष्ठा अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए कर्म करना आवश्यक है। अत· प्रायः सारा विश्व ही रजोगुण के वशीभूत हो रहा है। आधुनिक सभ्यता ने वस्तुतः केवल रजोगुण में उन्नति की है। इसके विपरीत, पूर्व में सात्त्विक अवस्था उन्नत

समझी जाती थी। जब सत्त्वगुणी मनुष्य की भी मुक्ति नहीं हो सकती, फिर रजोगुण में बँधे मनुष्यों के लिए तो कहना ही क्या है!

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत॥८॥

अनुवाद

हे अर्जुन! सब जीवो को मोहने वाले तमोगुण को अज्ञान से उत्पन्न जान। यह देहाभिमानी जीव को प्रमाद, आलस्य और निद्रा के द्वारा बाँधता है॥८॥

तात्पर्य

इस श्लोक में प्रयुक्त तु शब्द का तात्पर्य है कि देहाभिमानी जीव में तमोगुण विशेष रूप से पाया जाता है। यह तमोगुण सत्त्वगुण के ठीक विपरीत है। सत्त्वगुण में ज्ञान के विकास से तत्त्वबोध होता है, जबकि तमोगुण इसके बिल्कुल विपरीत कार्य करता है। तमोगुण से मोहित जीव प्रमत्त हो उठता है, जो प्रमत्त है, उसे कभी वस्तुज्ञान नहीं हो सकता। उत्थान के स्थान पर उसका पतन ही होता है। वैदिक शास्त्रों में तमोगुणी जीव का लक्षण यह बताया गया है कि उसे तत्त्वज्ञान नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ, कोई भी व्यक्ति देख सकता है कि उसके पितामह की मृत्यु हुई है और इसी भाँति एक दिन वह भी काल का ग्रास बनेगा, क्योंकि मनुष्यमात्र मरणशील है। जिन बालकों को वह जन्म देता है, वे भी मरेंगे। मृत्यु अवश्यम्भावी है। फिर भी, लोग सनातन आत्मा की उपेक्षा करते हुए धनोपार्जन के लिए दिन-रात अथक परिश्रम मे रत है। यह प्रमाद है। प्रमत्तता में वे पारमार्थिक ज्ञान के विकास से सर्वथा विमुख हो रहे है। इस कोटि के मनुष्य अत्यन्त आलसी होते हैं। यदि उन्हें आध्यात्मिक ज्ञान के लिए सत्संग में निमन्त्रित किया जाय तो वे उसमें रुचि नहीं लेते। वे तो रजोगुणी के समान क्रियाशील भी नहीं हैं। तमोगुणी व्यक्ति का एक लक्षण यह है कि वह आवश्यकता से अधिक सोता है। छ घण्टे की निद्रा स्वस्थ मनुष्य के लिए पर्याप्त है; परन्तु तमोगुणी मनुष्य दिन में कम से कम दस-बारह घण्टे सोता है। ऐसा मनुष्य सदा विषादमग्न दिखाई देता है। मादक द्रव्यों और निद्रा का तो मानो उसे व्यसन सा होता है। ये सब तमोगुण में बँधे मनुष्य के लक्षण हैं।

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत॥९॥

अनुवाद

सत्त्वगुण सुख की आसक्ति से बाँधता है, रजोगुण सकाम कर्मों से बाँधता और तमोगुण प्रमाद से बाँधता है।।९।।

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा।।१०।।

अनुवाद

हे अर्जुन! कभी सत्त्वगुण और तमोगुण को दबाकर रजोगुण प्रधान हो जाता है, कभी सत्त्वगुण रजोगुण को परास्त कर देता है और वैसे ही कभी तमोगुण भी सत्त्वगुण और रजोगुण से अधिक बढ़ जाता है। इस प्रकार इन तीनो गुणों में प्रभुत्व के लिए निरन्तर स्पर्धा बनी रहती है।।१०।।

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत।।११।।

अनुवाद

सत्त्वगुण के बढ़ने पर इस देह के सब इन्द्रियरूप द्वार ज्ञान से प्रकाशित हो उठते हैं।।११।।

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ।।१२।।

अनुवाद

और हे अर्जुन! रजोगुण के बढ़ने पर लोभ, प्रवृत्ति अर्थात् लौकिक प्रयत्न, नाना कर्मों का उद्यम, मन की चचलता तथा विषय-वासना—ये सब लक्षण प्रकट होते है।।१२।।

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन।।१३।।

अनुवाद

हे कुरुनन्दन! तमोगुण का विकास होने पर प्रमाद, मोह, क्रियाहीनता और अन्धकार की अभिव्यक्ति होती है।।१३।।

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते।।१४।।

अनुवाद

सत्त्वगुण की वृद्धि के काल में मरने वाला पुण्यात्माओं के निर्मल उच्च लोकों को प्राप्त होता है।।१४।।

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते।।१५।।

अनुवाद

रजोगुण के बढ़ने पर मृत्यु को प्राप्त हुआ प्राणी कर्मों में आसक्ति वाले मनुष्यों में जन्म लेता है और तमोगुण में मरा हुआ पशु आदि मूढ़ योनियों में उत्पन्न होता है।।१५।।

तात्पर्य

कुछ की धारणा है कि एक बार मनुष्ययोनि को प्राप्त होने के बाद जीवात्मा का फिर कभी अधःपतन नहीं होता। यह सत्य नहीं है। इस श्लोक से स्पष्ट है कि अन्तकाल में यदि किसी में तमोगुण की प्रधानता हो जाय, तो उसे अधम पशुयोनि की प्राप्ति होती है। ऐसे में मनुष्य देह की फिर प्राप्ति के लिए उस स्थिति से क्रमशः अपना उत्थान करना होगा। अतएव जो मनुष्ययोनि के माहात्म्य को यथार्थ रूप से जानते हैं, उन्हें केवल सत्त्वगुण का विकास करते हुए सत्संग द्वारा इन सभी गुणों से छूट कर कृष्णभावनाभावित हो जाना चाहिये। मनुष्यजीवन का यही लक्ष्य है। अन्यथा इसकी कोई गारण्टी नहीं है कि फिर इस मनुष्ययोनि की ही प्राप्ति हो।

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्।।१६।।

अनुवाद

सात्त्विक कर्म से अन्तःकरण की शुद्धि होती है; राजस कर्म का फल दुःख है और तामस कर्म से अज्ञान की प्राप्ति होती है।।१६।।

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च।।१७।।

अनुवाद

सत्त्वगुण से सच्चा ज्ञान बढ़ता है, रजोगुण से लोभ होता है और तमोगुण से प्रमाद, मोह और अज्ञान की उत्पत्ति होती है।।१७।।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः।।१८।।

अनुवाद

सत्त्वगुणी पुरुष स्वर्गादि उच्च लोकों को जाते हैं, रजोगुणी पृथ्वी (मनुष्य लोक) में ही रहते हैं और तमोगुणी प्राणी नरकों में गिरते हैं।।१८।।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति।।१९।।

अनुवाद

जिस काल में तू सब कर्मों में तीनों गुणों के अतिरिक्त किसी दूसरे को कर्ता नहीं देखेगा और परमेश्वर को इन गुणों से परे देखेगा, उस समय मेरी परा प्रकृति को प्राप्त होगा।।१९।।

तात्पर्य

यथार्थ महात्माओं से त्रिगुणमय कर्मों के तत्त्व को जानकर भलीभाँति हृदयंगम कर लेने से इन सभी से मुक्त हुआ जा सकता है। सच्चे गुरु श्रीकृष्ण है और वे अर्जुन को यह आध्यात्मिक विद्या प्रदान कर रहे है। इस भाँति सब मनुष्य कृष्णभावनाभावित महापुरुषों से त्रिगुणमय कर्मों के तत्त्व को ग्रहण करें। नहीं तो, जीवन दिग्भ्रान्त रहेगा। योग्य गुरु के सदुपदेश से जीवात्मा अपने आध्यात्मिक स्वरूप के, प्राकृत देह के तथा इन्द्रियों के तत्त्व को जान जाता है। वह यह भी जान जाता है कि माया में बँध कर वह किस प्रकार त्रिगुणों के आधीन हो गया है। इन गुणों की आधीनता में वह बिल्कुल असहाय है; किन्तु यथार्थ स्वरूप का बोध हो जाने पर उस भगवत्परायण शुद्ध सत्त्व में फिर से निष्ठ हो सकता है, जो तीनों गुणों से परे है। वास्तव में जीव नाना कर्मों का कर्ता नहीं है। गुणमय देह में स्थित होने के कारण ही वह विवश होकर कर्तापन को प्राप्त हो गया है। पारमार्थिक आचार्य की साहाय्य के बिना स्वरूप-बोध नहीं हो सकता। सद्गुरु के सत्संग से अपने स्वरूप का दर्शन होता है, जिसे जानकर वह पूर्ण रूप से कृष्णभावना में परिनिष्ठित हो जाता है। कृष्णभावनाभावित पुरुष माया के गुणों के वश में नहीं रहता। सातवें अध्याय में कहा जा चुका है कि श्रीकृष्ण का शरणागत माया के कार्यों से मुक्त हो

जाता है। तात्पर्य यह है कि तत्त्वज्ञ पुरुष के लिए माया का प्रभाव क्रमशः समाप्त हो जाता है।

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते।।२०।।

अनुवाद

देह की उत्पत्ति के कारणरूप तीनों गुणो का उल्लघन करके जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था और सब दु:खां से मुक्त हुआ जीवात्मा इसी जीवन में अमृत को प्राप्त हो जाता है।।२०।।

अर्जुन उवाच।
कैर्लिंगैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते।।२१।।

अनुवाद

अर्जुन ने जिज्ञासा की, हे प्रभो! इन तीनों गुणों से अतीत पुरुष किन लक्षणों से जाना जाता है? उसका आचरण किस प्रकार का होता है? तथा किस साधन के द्वारा वह इन गुणों से मुक्ति-लाभ करता है।।२१।।

श्रीभगवानुवाच।
प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति।।२२।।
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेंगते।।२३।।
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः।।२४।।
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते।।२५।।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, जो पुरुष प्रकाश, प्रवृत्ति अथवा मोह की प्राप्ति होने पर न तो उनसे द्वेष करता है और न निवृत्त हो जाने पर उनकी इच्छा करता है; जो उदासीन

की भाँति स्थित रहकर गुणों से विचलित नहीं होता तथा गुण ही कार्य कर रहे हैं, ऐसा जान कर स्थिर रहता है; जो सुख-दुःख को समान समझता है तथा मिट्टी, पत्थर और सोने को समान दृष्टि से देखता है; जो आत्म-स्वरूप में स्थित धीरपुरुष निन्दा-स्तुति, प्रिय-अप्रिय में समानभाव वाला है; जो मान-अपमान में सम है, मित्र और शत्रु से समान व्यवहार करता है तथा जिसने सब सकाम कर्मों का त्याग कर दिया है वह गुणातीत कहा जाता है।।२२-२५।।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते।।२६।।

अनुवाद

जो पूर्णरूप से मेरे अनन्य भक्तियोग के परायण है, किसी स्थिति में उससे गिरता नहीं, वह अविलम्ब त्रिगुणमयी माया का उल्लंघन करके ब्रह्मभूत हो जाता है।।२६।।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च।।२७।।

अनुवाद

परम सुखस्वरूप, अमृत, अविनाशी और सनातन निर्विशेष ब्रह्म का मैं ही आश्रय (आधार) हूँ।।२७।।

तात्पर्य

ब्रह्म स्वरूप से अमृत, अव्यय, नित्य और सुखमय है। यह ब्रह्म-तत्त्व परम सत्य की अनुभूति का प्रथम चरण है, परमात्मा तत्त्वज्ञान की द्वितीय श्रेणी है तथा श्रीभगवान् परम सत्य के अन्त हैं। इस प्रकार दोनों, निर्विशेष ब्रह्म तथा परमात्मा आदिपुरुष श्रीभगवान् के अन्तर्गत है। सातवे अध्याय में कहा है कि भौतिक प्रकृति श्रीभगवान् की अपरा (हेय) शक्ति का प्रकाश है। श्रीभगवान् इसी अपरा प्रकृति में जीवों का, जो परा प्रकृति के अंश है, गर्भाधान करते हैं। परा प्रकृति के इस संस्पर्श से जड़ अपरा प्रकृति क्रियान्वित हो उठती है। जब इस अपरा प्रकृति में बँधा जीव तत्त्वज्ञान का अनुशीलन करता है, तब उसका उत्थान होता है, जिससे वह शनैः-शनैः ब्रह्मभूत हो जाता है। परम सत्य के इस ब्रह्मस्तर की प्राप्ति स्वरूप-साक्षात्कार का प्रथम चरण ही है। इस अवस्था को प्राप्त ब्रह्मभूत पुरुष संसार से अतीत तो हो जाता है, किन्तु उसे ब्रह्मतत्त्व की वास्तव में पूर्ण अनुभूति नहीं हो पाती। यदि वह चाहे तो ब्रह्मभूत अवस्था में क्रमशः परमात्मा और भगवान् की अनुभूति तक उठ सकता

है। वैदिक शास्त्रों मे इस प्रकार के बहुत से उदाहरण हैं। सनकादि चारों कुमार पूर्व में परम सत्य की निर्विशेष ब्रह्म धारणा में निष्ठ थे। बाद में, वे शनैः-शनैः भक्तियोग में आरूढ़ हुए। जो इस ब्रह्म का उल्लंघन नहीं कर सकता, उसके पतन का भय बना रहता है। श्रीमद्भागवत में कथन है कि निर्विशेष ब्रह्म तक पहुँचा मनुष्य यदि आगे न बढ़े तो भगवत्-ज्ञान के अभाव में उसकी बुद्धि पूर्ण रूप से शुद्ध नहीं हो पाती। अतएव ब्रह्मस्तर पर आरूढ़ हो जाने के बाद भी भगवद्भक्ति के अभाव में अधःपतन की पूरी सम्भावना है। वैदिक शास्त्रों में आया है, **रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।** "भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् रसराज हैं। जो उन्हें जानता है, वह भी चिन्मय रसानन्द का आस्वादन करता है।" परमेश्वर छहों ऐश्वर्यों में पूर्ण हैं। इसलिए जब भक्त उनके उन्मुख होता है, तो इन सबका आदान-प्रदान हुआ करता है। राजा का सेवक प्रायः स्वामी की बराबरी प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार, शाश्वत् अमृतमय सुख तथा अविनाशी जीवन भक्तियोग के सहचर हैं। ब्रह्मानुभूति अथवा नित्यता अथवा अमृतत्व भक्तियोग में समाए रहते हैं। अतएव भक्तियोगी को यह सब पहले से ही प्राप्त है।

स्वरूप से ब्रह्मतत्त्व होने पर भी जीवात्मा प्राकृत-जगत् पर प्रभुत्व करना चाहता है और इसी कारण गिरता है। उसका स्वरूप माया के तीनों गुणों से परे है; फिर भी प्रकृति के संग से वह सत्त्व, रज और तम—प्रकृति के इन नाना गुणों में बँध जाता है। गुणों के संग में प्राकृत-जगत् पर प्रभुत्व की उसकी कामना बनी रहती है। परन्तु पूर्ण कृष्णभावना के साथ भक्तियोग में संलग्न होते ही वह तुरन्त गुणातीत हो जाता है और माया पर प्रभुत्व करने की उसकी अवैध इच्छा दूर हो जाती है। अतएव भक्तियोग की सिद्धि के लिए भक्तों के सत्संग में श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि नवधा साधन भक्ति का अभ्यास करना चाहिए। इस प्रकार के सत्संग और गुरुकृपा के प्रताप से क्रमश. प्रभुत्व-प्राप्ति की प्राकृत कामना के क्षीण होने पर वह अचल भाव से भगवद्भक्तिनिष्ठ हो जाता है। बाइसवें श्लोक से इस अन्तिम श्लोक तक इसी पद्धति का विधान है। भगवद्भक्ति की पद्धति अतिशय सरल और सुगम है। नित्य भगवत्सेवा करे, श्रीविग्रह को निवेदित नैवेद्य-प्रसाद का आहार करे, भगवच्चरणारविन्द में अर्पित पुष्पों की सुगन्ध को सूंघे, श्रीभगवान् के पावन लीलाधामों का दर्शन करे, भक्तों से उनकी प्रेममयी क्रीड़ाओं का श्रवण करे, **हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे, हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे** महामन्त्र का नित्य-निरन्तर कीर्तन करे तथा भगवान् और भक्तों की आविर्भाव-तिरोधान जयन्तियों पर उपवास करे। इस पद्धति का अनुसरण करने पर सम्पूर्ण जड़ कर्मों से पूर्ण विरक्ति हो जाती है। जो इस प्रकार ब्रह्मज्योति में स्थित हो जाता है, वह

चिद्गुणों में श्रीभगवान् के समान है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः।।१४।।

इति भक्तिवेदान्तभाष्ये चतुर्दशोऽध्यायः।।

अथ पंचदशोऽध्यायः

पुरुषोत्तमयोग
(परम पुरुष का योग)

श्रीभगवानुवाच ।
ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ।।१।।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, एक पीपल का पेड़ है जिसका मूल ऊपर है और शाखाएँ नीचे की ओर है, तथा वैदिक मन्त्र जिसके पत्ते हैं। जो इस वृक्ष को तत्त्व से जानता है, वह वेद के तात्पर्य को जानने वाला है।।१।।

तात्पर्य

भक्तियोग के माहात्म्य का श्रवण करने पर जिज्ञासा हो सकती है कि वेदों का क्या प्रयोजन है ? इस अध्याय के अनुसार वेदाध्ययन का एकमात्र प्रयोजन श्रीकृष्ण को तत्त्व से

जानना है। अतएव कृष्णभावनाभावित पुरुष, अर्थात् भक्तियोगी को अपने-आप वेदों का पूर्ण ज्ञान हो जाता है।

इस प्राकृत-जगत् के बन्धन को यहाँ आलकारिक भाषा में पीपल का पेड़ कहा गया है। सकाम कर्मी के लिए इस का अन्त नहीं है। वह एक शाखा से दूसरी शाखा पर जाता है, दूसरी से तीसरी पर, तीसरी से चौथी पर और इस प्रकार निरन्तर भटकता ही रहता है। इस प्राकृत-जगत्रूप वृक्ष के विस्तार की कोई सीमा नहीं है: जो इसमें आसक्त है, उसकी मुक्ति नहीं हो सकती। आत्मोन्नति की ओर लांक्षित वैदिक मन्त्र इस वृक्ष के पत्ते हैं। भगवान् ने इस वृक्ष की जड़ों को ऊपर बताया है, क्योंकि ये ब्रह्माजी के निवास सत्यलोक से निकलती हैं, जो इस ब्रह्माण्ड का सर्वोपरि लोक है। यह प्रपञ्च-वृक्ष प्रवाह रूप से नित्य है। जो इसे तत्त्व से जानता है, वह इससे छूट सकता है।

इस विमोचन की पद्धति को समझना आवश्यक है। पूर्ववर्ती अध्यायों में भव-बन्धन से मुक्ति के बहुत से साधनों का वर्णन है तथा तेरहवें अध्याय तक भगवद्भक्तियोग के साधन को सर्वोत्तम बताया गया है। भक्तियोग का प्रधान सिद्धान्त सामारिक कर्मों से वैराग्य और भगवत्सेवा मे अनुराग है। इस अध्याय के प्रारम्भ में उमी पद्धति का विवेचन है, जिमके द्वारा प्राकृत-जगत् की आसक्ति का सम्पूर्ण रूप से छेदन हो जाता है। संसार-रूप वृक्ष का मूल ऊपर की ओर है। भाव यह है कि यह सबसे ऊपर, सत्यलोक में महत्तत्त्व से निकला है। वहाँ से विभिन्न लोकरूपी शाखाओ में इस संसार-वृक्ष का विस्तार हुआ है। जीवों के कर्मफलरूपी धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इस वृक्ष के फल है।

इस संसार में हमे ऐसे किसी वृक्ष का अनुभव नहीं है, जो ऊपर मूल और नीचे शाखा वाला हो। इसका कुछ-कुछ आभास नदी-तट पर खड़े वृक्ष को देखने से हो सकता है। पेड़ की छाया जब जल मे पड़ती है तो उसकी शाखायें नीचे और मूल ऊपर की ओर दिखती है। भाव यह है कि यह प्राकृत-जगत्रूप वृक्ष वैकुण्ठ-जगत् रूपी वास्तविक वृक्ष का प्रतिबिम्ब मात्र है। वैकुण्ठ-जगत् का यह प्रतिबिम्ब वासना पर ठहरा हुआ है, उसी भाँति जैसे वृक्ष की छाया का जल आधार है। वासना के कारण ही पदार्थ प्रतिबिम्बित प्राकृत प्रकाश में स्थित है। जो संसार-बन्धन से मुक्ति चाहता है, उसे इस वृक्ष को तात्त्विक अन्वेषण द्वारा सम्पूर्ण रूप से जानना चाहिये। तब, इससे अपने सम्बन्ध का छेदन किया जा सकता है।

वास्तविक वृक्ष का प्रतिबिम्ब होने से यह ससार-वृक्ष ठीक प्रतिरूप है। यहाँ जो कुछ है, वह सब वैकुण्ठ-जगत् मे भी है। निर्विशेषवादियों के सांख्य दर्शन के

अनुसार, ब्रह्माजी इस संसार-वृक्ष के मूल हैं और उस मूल से ही क्रमशः प्रकृति, पुरुष, त्रिगुण, पंच महाभूत, दस इन्द्रियों और मन आदि होते हैं। इस प्रकार वे सम्पूर्ण जगत् का भिन्न-भिन्न तत्त्वों में वर्गीकरण करते हैं। यदि ब्रह्मा को सम्पूर्ण सृष्टि का केन्द्र माना जाय, तो यह प्राकृत-जगत् उस केन्द्र के १८० कोण का प्रकाश है और शेष १८० कोण वैकुण्ठ-जगत् है। यह प्राकृत-जगत् उस वैकुण्ठ-जगत् की उल्टी छाया है। अतएव वैकुण्ठ-जगत् मे भी निःसन्देह इसी के समान वैचित्री है; परन्तु वहाँ की वैचित्री सत् है। प्रकृति परमेश्वर की बहिरंगा शक्ति है तथा पुरुष परमेश्वर स्वय हैं, जैसा भगवद्गीता में वर्णन है। यह सृष्टि प्राकृत है, इसलिए क्षणभंगुर है। प्रतिबिम्ब सदा क्षणभंगुर ही होता है—कभी दृष्टिगोचर होता है तो कभी नहीं। परन्तु इस प्रतिबिम्ब का स्रोत शाश्वत् है। असली वृक्ष की प्राकृत छाया को काटना है। वास्तव में वेद का तात्पर्य वही जानता है, जो इस प्राकृत-जगत् की आसक्ति का छेदन कर सकता है। इस पद्धति को जानने वाला वास्तव में वेदज्ञ है। वेद के कर्मकाण्ड की ओर आकर्षित होना तो मानो वृक्ष के सुन्दर हरे-हरे पत्तों में रमना है। ऐसा व्यक्ति वेद के प्रयोजन को ठीक-ठीक नहीं जानता। जैसा स्वय श्रीभगवान् ने प्रकट किया है, वेद का तात्पर्य इस संसाररूप प्रतिबिम्बित वृक्ष को काट कर वैकुण्ठ-जगत् रूप असली वृक्ष को प्राप्त करना है।

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके।।२।।

अनुवाद

माया के तीनों गुणों रूप जल से बढ़ी हुई इस ससाररूप वृक्ष की शाखायें ऊपर-नीचे सब ओर फैली हुई हैं। इन्द्रियविषय ही इसके पत्ते है तथा मनुष्ययोनि में कर्म के अनुसार बाँधने वाली इसकी जड़े नीचे की ओर भी फैल रही हैं।।२।।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा।।३।।
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी।।४।।

अनुवाद

इस वृक्ष का असली रूप इस संसार में प्रत्यक्ष नहीं होता। इसके आदि, अन्त अथवा आधार को भी कोई नहीं जान सकता। इसलिए इस संसार-वृक्ष को दृढ़

निश्चय के साथ वैराग्यरूप शस्त्र के द्वारा काट कर, फिर उस परमपद को खोजना चाहिए, जिसे प्राप्त होकर संसार में फिर नहीं आना पड़ता। इसके लिए उन्हीं आदिपुरुष श्रीभगवान् के शरणागत हो जाय, जिनसे यह पुरातन संसार-प्रवृत्ति फैली है और अनादिकाल से जिनके आश्रित है।।३-४।।

निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्।।५।।

अनुवाद

जो मोह, मिथ्या अहंकार और असत् सग से मुक्त हैं, अध्यात्मतत्त्व को जानते हैं, जिनकी सम्पूर्ण प्राकृत कामनाएँ नष्ट हो चुकी है, जो सुख-दु ख के द्वन्द्वों से मुक्त हैं और श्रीभगवान् के शरणागत होना जानते हैं, वे ज्ञानीजन उस नित्यधाम को प्राप्त होते हैं।।५।।

तात्पर्य

इस श्लोक में शरणागति का बड़ा सुन्दर वर्णन है। इस पथ मे सर्वप्रथम यह योग्यता आवश्यक है कि मिथ्या अहंकार से मोहित न हो। अपने को प्रकृति का स्वामी समझकर बद्धजीव अभिमान से दृप्त हो रहा है, इसलिए उस के लिए श्रीभगवान् के शरणागत होना अति कठिन है। यथार्थ ज्ञान के अनुशीलन से जान लेना चाहिए कि प्रकृति का स्वामी वह नहीं है, श्रीभगवान् है। जब जीव अहकारजनित मोह से मुक्त हो जाता है, तब शरणागत-पद्धति को अपना सकता है। जो मनुष्य इस प्राकृत-जगत् में सदा सत्कार चाहता रहता है, उसके लिए श्रीपुरुषोत्तम की शरण मे जाना सम्भव नहीं। गर्व का मूल कारण मोह है, क्योंकि यद्यपि मनुष्य यहाँ आता है, कुछ काल तक ही रह पाता है और अन्त में चला जाता है, फिर भी मूर्खतावश अपने को ससार का ईश्वर समझ बैठता है। इस प्रकार वह स्वय अपने लिए जटिल समस्या का कारण बन जाता है और परिणाम में निरन्तर कष्ट भोगता है। सम्पूर्ण ससार इस भ्रान्त धारणा के आधीन घूम रहा है। लोग समझते हैं कि यह भूमि मानवसमाज की है। अपने को भूमि का स्वामी समझने की इस मिथ्या धारणा के कारण वे नाना प्रकार से इसका विभाजन कर बैठे हैं। इस भ्रम का त्याग करना होगा कि इस संसार पर मनुष्यजाति का स्वामित्व है। इस से मुक्त होते ही मनुष्य परिवार, समाज और राष्ट्र आदि के स्नेह से होने वाले सभी असत्संगों से मुक्त हो सकता है। वस्तुतः इस संगदोष के कारण ही जीव का संसार-बन्धन है। इसके बाद, अध्यात्मविद्या का विकास करना है। विचार करना चाहिए कि वास्तव में अपना क्या है और क्या अपना नहीं है। इस सम्पूर्ण तत्त्व को जान लेने पर वह सुख-दुःख, आनन्द-विषाद आदि सब द्वन्द्वों से छूट

कर पूर्ण ज्ञान से युक्त हो जाता है। तब वह श्रीभगवान् के शरणागत हो सकता है।

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।।६।।

अनुवाद

मेरे उस स्वयप्रकाश धाम को न सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा और न अग्नि ही प्रकाशित कर सकता है। जिसे प्राप्त हुआ जीव इस प्राकृत-जगत् में फिर नही आता, वही मेरा परमधाम है।।६।।

तात्पर्य

इस श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण के परमधाम का वर्णन है, जो कृष्णलोक अथवा गोलोक-वृन्दावन कहलाता है और वैकुण्ठ-जगत् में स्थित है। उस वैकुण्ठ-जगत् में सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि अथवा बिजली की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि वहाँ के सब लोक स्वयंप्रकाश हैं। हमारे इस ब्रह्माण्ड में एकमात्र सूर्यलोक स्वयंप्रकाश है; परन्तु परव्योम के सब लाक स्वयप्रकाश है। वैकुण्ठ-लोकों की इस दीप्ति को 'ब्रह्मज्योति' कहते हैं। वास्तव में इस ज्योति का स्रोत कृष्णलोक गोलोक-वृन्दावन है। इस तेजोमयी ज्योति के एक अंश पर महत्तत्त्व का आवरण है। यही प्राकृत-जगत् है। परन्तु ज्योतिर्मय परव्योम का अधिकांश तो वैकुण्ठ नामक दिव्य लोकों से ही परिपूर्ण है। गोलोक-वृन्दावन इन सबमें परमोच्च है।

जब तक जीव इस अंधकारमय प्राकृत-जगत् में है, तब तक वह उपाधियों मे बँधा रहता है; परन्तु प्राकृत-जगत्रूपी उल्टे वृक्ष को काट कर वैकुण्ठ-जगत् में पहुँचते ही वह मुक्त हो जाता है। फिर उसके यहाँ आने का भय नहीं रहता। उपाधिबद्ध जीवन मे जीव अपने को इस प्राकृत-जगत् का ईश्वर समझता है, परन्तु मुक्त हो जाने पर वैकुण्ठ-जगत् में प्रवेश कर श्रीभगवान् के पार्षद के रूप में सच्चिदानन्दमय जीवन का आस्वादन करता है।

मनुष्य को वैकुण्ठ-जगत् की इस जानकारी पर मुग्ध हो जाना चाहिए। इच्छा करे कि मै इस संसार से, जो सच्चाई की विकृत छाया है, मुक्त होकर उस शाश्वत्-जगत् को प्राप्त हो जाऊँ। जो प्राकृत-जगत् में अति आसक्त हो, उसके लिए अवश्य इस आसक्ति का छेदन करना दुष्कर होगा। परन्तु यदि वह कृष्णभावना को अंगीकार कर ले, तो शनैः शनैः पूर्ण वैराग्य को प्राप्त हो सकता है। इसके लिए कृष्णभावनाभवित भक्तों का सत्संग करने की बड़ी अपेक्षा है। कल्याणकामी को एक ऐसे भक्तसमाज की खोज करनी चाहिए, जो कृष्णभावना के लिए समर्पित हो। इस

प्रकार के भागवत-संघ में भक्तियोग की शिक्षा ग्रहण करने से प्राकृत-जगत् में आसक्ति की ग्रन्थी को काटा जा सकता है। केवल संन्यासी का वेष बना लेने से ही कोई प्राकृत-जगत् के आकर्षण से निर्लिप्त नहीं हो सकता। संसार से वैराग्य के लिए आवश्यक है कि भगवद्भक्तियोग में अनुराग हो। अतएव यह गम्भीरतापूर्वक समझ लेना चाहिए कि बारहवें अध्याय में वर्णित भक्तियोग सच्चे वृक्ष की इस असत् छाया से बाहर निकलने का एकमात्र उपाय है। चौदहवें अध्याय से स्पष्ट हो जाता है कि अन्य सब साधन माया से दूषित हैं, केवल भक्तियोग पूर्णरूप से दिव्य है।

परमं मम शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। वैसे तो सभी कुछ श्रीभगवान् की सम्पत्ति है; परन्तु वैकुण्ठ-जगत् **परमम्** है, अर्थात् विशेष रूप में छः प्रकार के ऐश्वर्यों से परिपूर्ण है। उपनिषदों में भी प्रमाण है कि वैकुण्ठ-जगत् में सूर्यज्योति-चन्द्रज्योति की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह पूर्ण रूप से श्रीभगवान् की अंतरंगा शक्ति द्वारा देदीप्यमान है। उस परमधाम की प्राप्ति का एकमात्र साधन श्रीभगवान् की शरण में जाना है।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।।७।।

अनुवाद

इस बद्ध जगत् में यह जीव मेरा ही शाश्वत् भिन्न-अंश है। बद्धदशा में होने के कारण यह मन और पाँच इन्द्रियों के साथ घोर संघर्ष कर रहा है।।७।।

तात्पर्य

यहाँ जीव का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है—जीव श्रीभगवान् का शाश्वत् भिन्न-अंश है। ऐसा नहीं कि वह बद्धदशा में जीवस्वरूप को धारण कर लेता है और मुक्त हो जाने पर परमेश्वर से एक हो जाता है। वह नित्य भिन्न-अंश है, **सनातन** विशेषण के प्रयोग से यह निश्चित रूप से सिद्ध होता है। वैदिक मन्तव्य के अनुसार, श्रीभगवान् असंख्य रूपों में अपना विस्तार और प्रकाश करते हैं, जिनमें से स्वाश नामक प्रधान रूपों को विष्णुतत्त्व कहते हैं और गौण भिन्न-अंशों को जीवतत्त्व कहते हैं। भगवान् राम, नृसिंहदेव, विष्णुमूर्ति और वैकुण्ठ लोकों के अधीश्वर श्रीकृष्ण के स्वांश-प्रकाश हैं तथा जीव उनके भिन्न-अंश हैं, अर्थात् नित्यदास हैं। श्रीभगवान् के स्वांश-प्रकाश सनातन हैं और उसी प्रकार भिन्न-अंश जीवों का अपना सनातन स्वरूप है। श्रीभगवान् के भिन्न-अंश होने के कारण जीवों में उनके आंशिक गुण भी हैं, जिनमें से एक गुण स्वतन्त्रता है। प्राणीमात्र एक जीवात्मा है; उसका निजी स्वरूप है

और उसे अल्पमात्र स्वतन्त्रता भी मिली है। इस स्वतन्त्रता का दुरुपयोग करने से वह बंधन में पड़ जाता है और इसी के सदुपयोग से शाश्वत् मुक्ति-लाभ कर सकता है। दोनों ही अवस्थाओं में वह श्रीभगवान् के समान नित्य है। मुक्तावस्था में वह इस बद्धदशा से छूट जाता है और भगवत्सेवा में संलग्न रहता है, जबकि बद्धदशा में त्रिगुणमयी माया के वशीभूत होकर भगवद्भक्तियोग को भूल बैठता है। इस विस्मृतिवश ही प्राकृत-जगत् में जीवित रहने के लिए भीषण संघर्ष करने को वह बाध्य हो जाता है।

मनुष्य, पशु, आदि जीव ही नहीं अपितु ब्रह्मा, शिव और विष्णु जैसे प्राकृत-जगत् के सब महासंचालक भी भगवान् श्रीकृष्ण के अंश हैं। वे सभी सनातन है, उनकी अभिव्यक्ति नित्य है। **कर्षति** शब्द सारपूर्ण है। बद्धजीव प्राकृत-जगत् में मानो लोह-पाश में बँधा हुआ है। मिथ्या अहंकार उसका बंधन है और मन इस भवबधन की ओर ले जाने वाली मुख्य इन्द्रिय है। जब मन सत्त्वगुण में रहता है तो कर्म सुखदायक होते हैं; जब उस में रजोगुण बढ़ जाता है, तो अपने कर्मों से दुःख की प्राप्ति होती है तथा तमोगुण छा जाने पर अधम योनियों में दुर्गति होती है। इस श्लोक से स्पष्ट है कि बद्धजीव मन और इन्द्रियों वाले प्राकृत शरीर के आवरण में है। मुक्ति होने पर यह प्राकृत आवरण नष्ट हो जाता है, परन्तु उसका दिव्य वपु—जीवस्वरूप बना रहता है। माध्यन्दिनायन श्रुति के अनुसार, **स वा एष ब्रह्मनिष्ठ इदं शरीरं मर्त्यमतिसृज्यब्रह्माभिसंपद्य ब्रह्मणा पश्यति ब्रह्मणा शृणोति ब्रह्मणैवेदं सर्वमनुभवति।** अर्थात् इस प्राकृत बन्धन से छूट कर जब जीव वैकुण्ठ-जगत् में प्रवेश करता है, उस समय वह अपने अप्राकृत वपु को फिर प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार दिव्य देह में वह साक्षात् श्रीभगवान् का दर्शन करता है। वह उनसे संभाषण भी कर सकता है। इतना ही नहीं, वह श्रीभगवान् को तत्त्व से जान जाता है। स्मृति में भी कहा है कि भगवद्धामों में सब जीवों का श्रीभगवान् के समान ही दिव्य वपु है। भिन्न-अंश जीवों और स्वांश विष्णुमूर्ति में वहाँ सारूप्य है। भाव यह है कि मुक्ति-काल में जीव को भगवत्कृपा से दिव्य कलेवर की प्राप्ति होती है।

मम एव अंशः शब्द का बड़ा गम्भीर आशय है। श्रीभगवान् का भिन्न-अंश किसी प्राकृत वस्तु के भग्न अंश जैसा नहीं है। पूर्व में, दूसरे अध्याय में कहा जा चुका है कि आत्मतत्त्व का छेदन नहीं किया जा सकता। आत्म-कण तो वस्तुतः प्राकृत चिन्तन का विषय ही नहीं है। यह कोई जड़ पदार्थ नहीं है, जिसे भग्न करके फिर जोड़ा जा सके। इस श्लोक में आए **सनातन** शब्द से यह स्पष्ट हो जाता है। श्रीभगवान् के भिन्न-अंश शाश्वत् हैं, जैसा दूसरे अध्याय के प्रारम्भ में

उल्लेख है—**देहिनोऽस्मिन् यथा देहे**, प्राणीमात्र की देह मे श्रीभगवान् का भिन्न-अंश है। देह-बन्धन से मुक्त होने पर वह भिन्न-अंश अपने दिव्य विग्रह को फिर से प्राप्त होकर भगवद्धाम में श्रीभगवान् के संग में आनन्द करता है। इसका यह भी भाव है कि जीव श्रीभगवान् का भिन्न-अंश है, इसलिए वह चिद्‌गुणो मे उन्ही के समान है, जैसे स्वर्ण का एक कण भी स्वर्ण है।

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्।।८।।

अनुवाद

जैसे वायु गन्ध के स्थान से गन्ध को ग्रहण करके ले जाता है, वैसे ही देह का स्वामी जीव प्राकृत-जगत् मे जिस शरीर को त्यागता है, उससे अपनी सब स्थूल-सूक्ष्म इन्द्रियो को ग्रहण कर दूसरे शरीर मे ले जाता है।।८।।

तात्पर्य

जीव को ईश्वर कहने का अर्थ यह है कि वह अपनी देह और इन्द्रियां का स्वामी है। वह स्वेच्छा से उच्च-अधम किसी भी योनि में देहान्तर कर सकता है। इस विषय मे उसे आशिक स्वतन्त्रता है। उसका देहान्तर किस शरीर मे होगा, यह उसी पर निर्भर करता है। जीवन मे उसने जिस चेतना का विकास किया है, मृत्यु-काल मे वह उसे अगले प्रकार के शरीर मे ले जायगी, यदि अपनी चेतना को कुत्ते-बिल्ली के स्तर पर रखा है, तो कुत्ते-बिल्ली की योनि मे ही उसका देहान्तर होगा। इसी प्रकार, जिसकी चेतना दैवी गुणो पर एकाग्रित है, उसे देव-शरीर मिलेगा। अतएव इसमे सन्देह नही कि यदि वह कृष्णभावनाभावित है, तो अवश्य ही वैकुण्ठ-जगत् के कृष्णलोक मे श्रीकृष्ण का सांनिध्य-लाभ करेगा। यह कहना बिल्कुल मिथ्या है कि इस देह का नाश होने पर सब कुछ समाप्त हो जाता है। सत्य यह कि जीवात्मा निरन्तर देहान्तर कर रहा है और उसकी वर्तमान देह और क्रिया अगले शरीर को निर्धारित करती है। यथासमय उस देह को त्याग कर कर्मानुसार किसी अन्य देह में जाने को जीव बाध्य है। यहाँ उल्लेख है कि सूक्ष्म शरीर अगले शरीर का संस्कार धारण किए रहता है और पुनर्जन्म में एक नए स्थूल शरीर का विकास करता है। इस देहान्तर के क्रम का और देह मे चलने वाले संघर्ष का नाम ही **कर्षति** है।

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते।।९।।

अनुवाद

इस प्रकार दूसरा स्थूल शरीर ग्रहण करके यह जीव शरीर के अनुसार मन तथा उसके आधीन कान, नेत्र, त्वचा, रसना और नाक से विषय भोगता है।।९।।

तात्पर्य

भाव यह है कि जो जीव अपनी चेतना को कुत्ते-बिल्ली के गुणों से दूषित कर देता है, उसे पुनर्जन्म में कुत्ते-बिल्ली का शरीर मिलता है और इसी के अनुरूप वह विषय भोगता है। चेतना मूल रूप में जल के समान निर्मल और शुद्ध है। परन्तु यदि जल में कोई रंग मिला दिया जाय तो वह उसी रंग का प्रतीत होने लगता है। ऐसे ही, चेतना भी आदिरूप में निर्मल है, क्योंकि जीवात्मा का स्वरूप शुद्ध है। परन्तु प्राकृत गुणों के संग के अनुसार वह विकृत हो जाती है। असली चेतना कृष्णभावना है, अतएव जो कृष्णभावनाभावित है, वह अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित है। यदि यह चेतना किसी प्रकार के प्राकृत मनोभाव से दूषित हो जाय, तो अगले जन्म में उसी के अनुसार देह मिलेगी। यह आवश्यक नहीं कि मनुष्य शरीर की ही फिर प्राप्ति हो, कुत्ते, बिल्ली, सुअर, देवता आदि चौरासी लाख योनियों मे से किसी की भी प्राप्ति हो सकती है।

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः।।१०।।

अनुवाद

जीवात्मा जिस प्रकार देह को त्याग कर जाता है और माया के आधीन जिस देह को भोगता है, मूर्ख यह नहीं जान सकते; परन्तु विवेकरूप नेत्र वाले ज्ञानी पुरुषों को इस सबका अनुभव होता है।।१०।।

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः।।११।।

अनुवाद

आत्मज्ञानी योगी यत्न करते हुए इस तत्त्व को पूर्ण रूप से देखते है; परन्तु जो आत्मज्ञानी नही हैं, वे चेष्टा करने पर भी इसे नहीं देख सकते।।११।।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्।।१२।।

अनुवाद

जो तेज सूर्य मे स्थित होकर सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है, जो चन्द्रमा

में है और जो अग्नि में है, उसको तू मेरा ही तेज जान।।१२।।

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः।।१३।।

अनुवाद

मै सम्पूर्ण लोकों में प्रवेश करके उन्हें सारे जीवों सहित अपनी शक्ति द्वारा धारण करता हूँ और अमृतमय चन्द्रमा होकर सब वनस्पतियों का पोषण करता हूँ।।१३।।

तात्पर्य

निःसन्देह सम्पूर्ण लोक श्रीभगवान् की शक्ति से ही अतरिक्ष में भ्रमण कर रहे है। श्रीभगवान् का एक-एक लोक, एक-एक जीव और अणु-अणु में प्रवेश है। इस तत्त्व का निरूपण ब्रह्मसंहिता में है। उस के अनुसार श्रीभगवान् का एक अंश-प्रकाश, परमात्मा सब लोकों, ब्रह्माण्डों, जीवों, यहाँ तक कि अणुओं में भी प्रवेश करता है। उनके इस प्रकार प्रवेश करने से ही सब कुछ ठीक-ठीक प्रकाशित होता है। जब तक आत्मा देह मे रहता है, तब तक ही मनुष्य तैर सकता है; आत्मा के जाते ही शरीर डूब जाता है। इसी प्रकार, ये सब लोक अंतरिक्ष में तैर रहे हैं, क्योंकि इनमें श्रीभगवान् की शक्ति का प्रवेश हुआ है। भगवत्-शक्ति के लिए ये लोक धारण करने को कुछ धूलिकणों से अधिक नही हैं। यदि कोई मुट्ठी में धूल उठाए, तो वह नहीं गिरेगी; परन्तु यदि उसे ऊपर उछाला जाय, तो वह अवश्य गिरेगी। अंतरिक्ष में तैरते हुए इन लोको को वस्तुतः विश्वरूपधारी श्रीभगवान् ने अपनी मुट्ठी में पकड़ रखा है। उनकी शक्ति और सामर्थ्य से सभी चराचर पदार्थ यथास्थान बने रहते हैं। शास्त्रों में कहा है कि श्रीभगवान् के कारण ही सूर्य चमकता है और ग्रह गतिशील हैं। उनके बिना सब लोक वायु में धूलि के समान बिखर कर तत्काल नष्ट हो जाएँ। यह भी श्रीभगवान् की शक्ति का ही प्रभाव है कि चन्द्रमा वनस्पति-जगत् का अमृत से पोषण करता हुआ रस का संचार करता है। उसके बिना वनस्पतियाँ न तो बढ़ेंगी और न स्वादिष्ट होंगी। वास्तव में देखा जाय तो श्रीभगवान् की कृपा से ही मानव समाज कार्य कर रहा है और स्वादिष्ट भोजन का आनन्द लेता हुआ सुखपूर्वक जीवनयापन कर रहा है। अन्यथा, उसके लिए बना रहना असम्भव है। **रसात्मकः** शब्द सारगर्भित है, चन्द्रमा के द्वारा श्रीभगवान् सब खाने योग्य पदार्थों में रस, अर्थात् स्वाद का संचार करते हैं।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्।।१४।।

अनुवाद

मैं ही सब प्राणियों के शरीर मे वैश्वानर अग्निरूप से प्राण-अपान के साथ चार प्रकार के अन्न को पचाता हूँ।।१४।।

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्।।१५।।

अनुवाद

मै सब प्राणियो के हृदय में बैठा हूँ और मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और विस्मृति होती है, सब वेदों से एकमात्र मै ही जानने योग्य हूँ तथा वेदान्त का रचयिता और वेदों को जानने वाला भी मै ही हूँ।।१५।।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।।१६।।

अनुवाद

क्षर और अक्षर, ये दो प्रकार के जीव हैं। प्राकृत-जगत् में सब प्राणी क्षर हैं और वैकुण्ठ-जगत् में प्राणीमात्र अक्षर कहलाता है।।१६।।

तात्पर्य

पूर्व में कहा जा चुका है कि श्रीभगवान् ने व्यास-अवतार में 'वेदान्तसूत्र' का सकलन किया। यहाँ श्रीभगवान् वेदान्तसूत्र का सारांशनिरूपण करते हैं। वे कहते हैं कि जीव असंख्य है और उनकी क्षर और अक्षर—दो कोटियाँ हैं। जीव श्रीभगवान् के सनातन भिन्न-अश हैं। जब वे प्राकृत-जगत् के संसर्ग में रहते हैं, तो 'जीवभूत' कहे जाते हैं। यहाँ पर **सर्वाणि भूतानि** का तात्पर्य है कि वे स्वरूप से पतनमुखी हैं। इसके विपरीत, जो मुक्त जीव श्रीभगवान् से एकावस्था में स्थित हैं, उनका कभी स्वरूप से पतन नहीं होता, अर्थात् वे अक्षर हैं। एकावस्था का यह अर्थ नहीं कि उनका अपना कोई स्वरूप ही नहीं रहता। इसका अर्थ है कि वे परस्पर सम्बन्धहीन नहीं हैं। वे सब सृष्टि के प्रयोजन के लिए एकमत हैं। निःसन्देह शाश्वत् वैकुण्ठ-जगत् की सृष्टि का प्रश्न नहीं उठता। यहाँ सृष्टि विषयक विचार इसलिए किया गया है, क्योंकि श्रीभगवान् ने 'वेदान्तसूत्र' में कहा है कि वे सब उद्गमों के स्रोत हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण के अनुसार जीवों की दो कोटियाँ हैं। यह वेदों से भी प्रमाणित है, अत. निःसन्देह सत्य है। जो जीव मन और पाँच इन्द्रियों के साथ इस संसार में संघर्ष कर रहे हैं, वे प्राकृत देह में स्थित हैं। बद्धावस्था में जीव की देह में निरन्तर विकार हुआ करता है। ऐसा अचित् (जड़ प्रकृति) के संसर्ग के कारण होता है; अचित् जड़-तत्त्व विकारी है, इसलिए उसके संसर्ग में जीवात्मा भी विकारी प्रतीत होता है। परन्तु वैकुण्ठ-जगत् में मिलने वाली देह अचित् जड़ से नहीं बनी होती; अतः वहाँ क्षरण अथवा विकार नहीं होता। प्राकृत-जगत् में जीव को छः विकारों की प्राप्ति होती है—जन्मना, बढ़ना, कुछ काल तक रहना, सन्ततिरूप परिणाम, क्षय और अन्त में विनाश। ये सब वास्तव में प्राकृत देह के विकार हैं। इसके विपरीत, वैकुण्ठ-जगत् में देह में कभी कोई विकार नहीं होता। वहाँ न जरा है, न जन्म है और न मृत्यु ही है। वहाँ सब कुछ एकावस्था में स्थित है। इसी भाव को अधिक स्पष्ट करने के लिए **सर्वाणि भूतानि** शब्दों का प्रयोग है। ब्रह्मा से लेकर तुच्छ चींटी तक जो कोई भी प्राणी जड़ प्रकृति के संसर्ग में है, उसका शरीर विकारी है; वह क्षर है, अर्थात् अपने स्वरूप से पतनमुखी है। परन्तु वैकुण्ठ-जगत् में ऐसा नहीं है। वहाँ पर सभी एकावस्था में मुक्त हैं।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः।।१७।।

अनुवाद

परन्तु इन दोनों से उत्तम पुरुष तो अविनाशी परमेश्वर ही हैं, जो इन सब लोकों में प्रवेश करके उनका धारण-पालन करते हैं।।१७।।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः।।१८।।

अनुवाद

मैं क्षर-अक्षर दोनों से परे, सबसे उत्तम हूँ; इसलिए संसार में और वेदों में पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ।।१८।।

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत।।१९।।

अनुवाद

हे अर्जुन! जो कोई भी इस प्रकार मुझे निश्चित रूप से पुरुषोत्तम जानता है,

वह सब कुछ जानता है और पूर्ण रूप से मेरे भक्तियोग के परायण हो जाता है।।१९।।

तात्पर्य

जीव-स्वरूप और परतत्त्व-स्वरूप के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के दार्शनिक वाद-विवाद हैं। यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण ने स्पष्ट किया है कि जो कोई उन्हें तत्त्व से पुरुषोत्तम जानता है, वही वास्तव में सर्वज्ञ है। अपूर्ण ज्ञानी परतत्त्व विषयक तर्क ही करता रहता है, जबकि पूर्ण तत्त्वज्ञ अपना समय नष्ट किए बिना प्रत्यक्ष रूप से कृष्णभावना अर्थात् भगवद्भक्तियोग में तत्पर हो जाता है। सम्पूर्ण गीता में आद्योपान्त पद-पद पर इसी सत्य पर बल दिया गया है। फिर भी गीता के हठाग्रही व्याख्याकार परतत्त्व और जीवतत्त्व को एक मानते हैं।

वैदिक ज्ञान को श्रुति कहते हैं, क्योंकि वह सुनने से होता है। वास्तव में वैदिक ज्ञान को श्रीकृष्ण से अथवा उनके प्रामाणिक प्रतिनिधि से ग्रहण करना चाहिए। यहाँ श्रीकृष्ण ने विशद तत्त्व-विवेचन किया है, अतः इसका श्रवण करे। पशुओं के समान एक कान से सुनकर दूसरे से निकाल देने से कोई लाभ नहीं होगा। सच्चे लाभ के लिए प्रामाणिक आचार्यों से ज्ञान को धारण करना चाहिए। ऐसा नहीं कि स्वय बौद्धिक तर्क-वितर्क (मनोधर्म) करता रहे। आत्मसमर्पणशील भाव के साथ भगवद्गीता से यह सुनना चाहिए कि सब जीव सदा श्रीभगवान् के वश में हैं। जो यह जान जाता है, भगवान् श्रीकृष्ण के अनुसार वह सम्पूर्ण वेदों के तात्पर्य को जानता है। दूसरा कोई वेदों के तात्पर्य को नही जानता।

भजते शब्द आशयपूर्ण है। अन्यत्र भी अनेक स्थानों पर इस शब्द का प्रयोग श्रीभगवान् की सेवा के अर्थ में है। यदि कोई मनुष्य पूर्ण कृष्णभावना के साथ भगवद्भक्तियोग में लगा हुआ है तो समझना चाहिए कि उसने सम्पूर्ण वैदिक ज्ञान को जान लिया है। वैष्णव परम्परा में माना जाता है कि जो श्रीकृष्ण के भक्तियोग के परायण है, उसे परमसत्य को जानने के लिए किसी अन्य परमार्थ-साधन की अपेक्षा नहीं है। भक्तियोग में तत्पर होने के प्रभाव से वह पहले ही उस स्तर तक पहुँच चुका है। उसके लिए ज्ञान की प्रारम्भिक पद्धतियों में कोई सार नहीं रहता। प्रकारान्तर से, हजारों जन्मों तक तर्क-वितर्क करने पर भी यदि कोई इस ज्ञान तक नहीं पहुँचता कि श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं और उनकी शरण में जाना जीव का परम धर्म है, तो इतने वर्षों और जन्मों तक किया वाद-विवाद और मनोधर्म समय का निरर्थक अपव्यय है।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत।।२०।।

अनुवाद

हे निष्पाप अर्जुन! इस प्रकार यह वैदिक शास्त्रों का परम गोपनीय सार मेरे द्वारा प्रकट किया गया। इसको जानने वाला बुद्धिमान् और कृतार्थ हो जाता है।।२०।।

तात्पर्य

श्रीभगवान् ने स्पष्ट किया है कि यह तत्त्व सम्पूर्ण शास्त्रों का परम सार है। यह आवश्यक है कि इस परम सत्य को उसी रूप में ग्रहण किया जाय जिस रूप मे श्रीभगवान् ने इसका उपदेश किया है। इस प्रकार जानने वाला पुरुष बुद्धिमान् और दिव्य ज्ञान में सिद्ध हो जायगा। भाव यह है कि श्रीभगवान् के इस दर्शन को समझने और उनकी दिव्य सेवा में तत्पर हो जाने से मनुष्यमात्र त्रिगुणमयी माया के सम्पूर्ण दोषों से मुक्त हो सकता है। भक्तियोग वस्तुत· अध्यात्म बोध का मार्ग है। जहाँ भक्तियोग है, वहाँ प्राकृत दोष नहीं रह सकते। श्रीभगवान् और उनके भक्तियोग में भेद नहीं है; दोनों दिव्य हैं, अर्थात् भगवती अंतरगा शक्ति से युक्त है। श्रीभगवान् मानो सूर्य है और अविद्या जैसे अंधकार है। जहाँ सूर्य है, वहाँ अधकार नहीं रह सकता। ऐसे ही, जो पुरुष सद्गुरु के मार्गदर्शन में भक्तियोग के परायण है, उनमे अविद्या का लेश भी नहीं रहता।

मनुष्यमात्र को बुद्धिमान् और शुद्ध होने के लिए इस कृष्णभावना को अंगीकार कर भक्तियोग में सलग्न हो जाना चाहिए। जब तक कोई भगवान् श्रीकृष्ण के इस पुरुषोत्तम-तत्त्व को जानकर भक्तियोग के परायण नहीं होता, किसी सामान्य मनुष्य की गणना में वह चाहे कितना भी बुद्धिमान् क्यों न हो, परन्तु वास्तव में वह बुद्धिमान् नहीं है।

अर्जुन को **अनघ** कहने का गूढ अभिप्राय है। तात्पर्य यह है कि सब प्रकार के पापों से मुक्त हुए बिना श्रीकृष्ण को जान पाना बड़ा कठिन है। मनुष्य को सब दोषों और पापकर्मों से छूट जाना होगा; तभी वह इस तत्त्व को जान सकेगा। परन्तु भक्तियोग इतना शुद्ध और शक्तिशाली है कि जो एक बार इसमें प्रवृत्त होता है, वह अपने-आप निष्पाप शुद्धावस्था को प्राप्त हो जाता है।

शुद्ध भक्तों के सत्संग मे पूर्ण कृष्णभावनाभावित होकर भक्तियोग का आचरण करते हुए कुछ दोषों को पूर्ण रूप से दूर कर देना चाहिए। सबसे पहले हृदय की दुर्बलता को जीतना है, क्योंकि माया पर प्रभुत्व की इच्छा पतन का सबसे बड़ा

कारण है। ऐसी इच्छा के कारण ही मनुष्य भक्तियोग का त्याग कर बैठता है। हृदय की दूसरी दुर्बलता यह है कि जैसे-जैसे माया पर प्रभुत्व करने की प्रवृत्ति बढ़ती है, वैसे-वैसे ही वह जड़ तत्त्व में और जड़ तत्त्व के स्वत्व में अधिक आसक्त होता जाता है। भवरोग के दुःख हृदय की इन दुर्बलताओं के कारण ही हैं।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पंचदशोऽध्यायः।।१५।।

इति भक्तिवेदान्त भाष्ये पंचदशोऽध्यायः।।